सामाजिक क्रांति का दर्शन

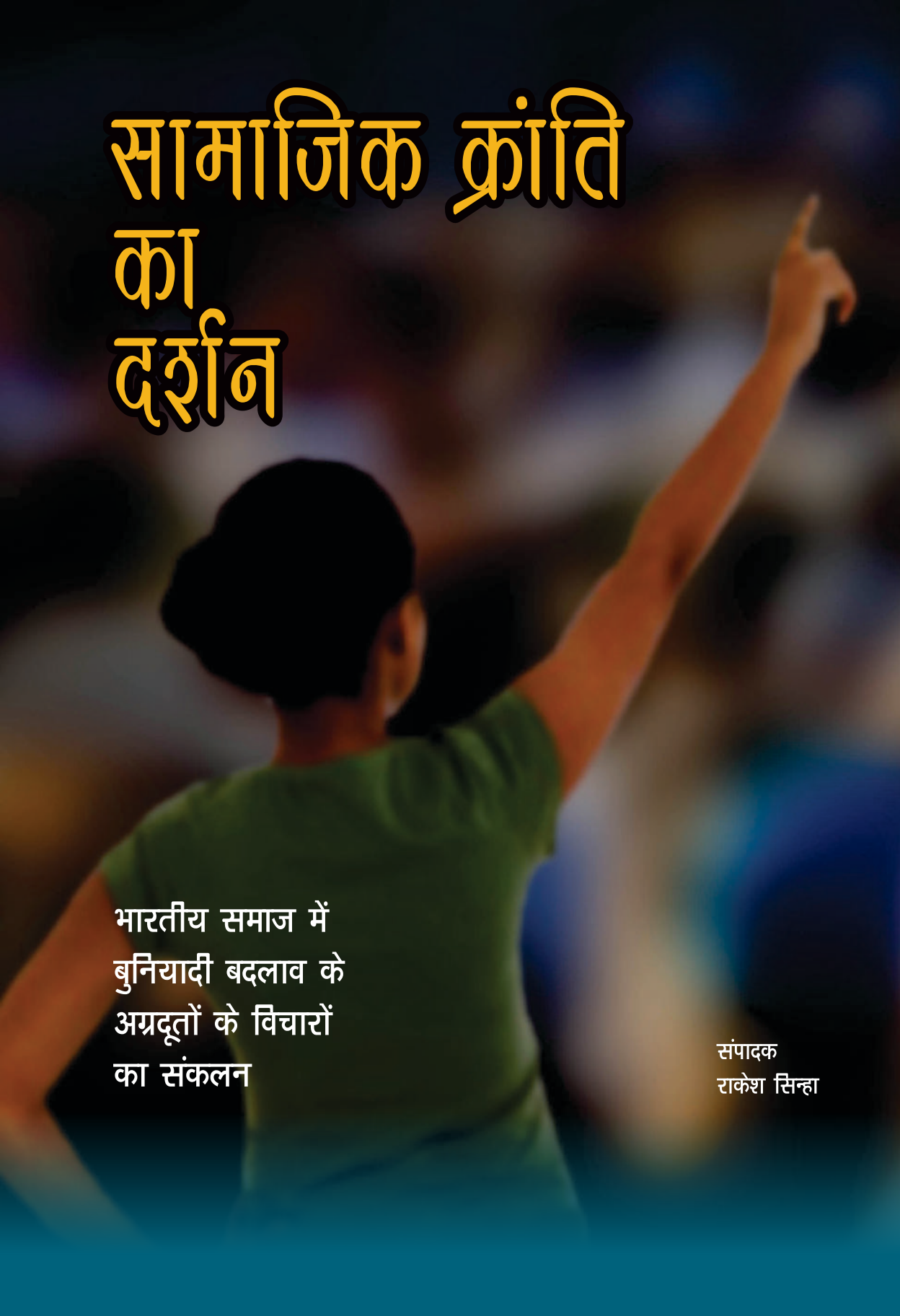

भारतीय समाज में
बुनियादी बदलाव के
अग्रदूतों के विचारों
का संकलन

संपादक
राकेश सिन्हा

सामाजिक क्रांति का दर्शन

सामाजिक क्रांति का दर्शन

भारतीय समाज में बुनियादी बदलाव के अग्रदूतों
के विचारों का संकलन

संपादक
प्रो. राकेश सिन्हा

भारत नीति प्रतिष्ठान
India Policy Foundation

प्रतिष्ठान की नीति के तहत हम इस पुस्तक की विषयवस्तु के संदर्भ सहित पूर्ण या आंशिक प्रयोग को प्रोत्साहित करते हैं।

प्रकाशक
भारत नीति प्रतिष्ठान
डी–51, हौज खास, नई दिल्ली–110016 (भारत)
दूरभाष : 011–26524018
फैक्स : 011–46089365
ई–मेल : indiapolicy@gmail.com
वेबसाइट : www.indiapolicyfoundation.org

संस्करण : प्रथम, जुलाई, 2014
द्वितीय, अगस्त, 2014
तृतीय, मार्च, 2015
© भारत नीति प्रतिष्ठान
ISBN: 978-81-925223-7-1

मूल्यः 100 रुपये मात्र

मुद्रकः **I'M WORLD**
C-33, Sector 10,
Noida

अनुक्रम

1. **भूमिका** 01

2. **विश्व हिन्दू परिषद का उडुपी प्रस्ताव** 13
अस्पृश्यता धर्म विरोधी कृत्य है

3. **मा. स. गोलवलकर** 19
पश्चाताप जनित विनम्रता का सिद्धांत

4. **बालासाहब देवरस** 27
अस्पृश्यताः असभ्यता और उत्पीड़न का प्रतीक

5. **दत्तोपंत ठेंगड़ी** 41
सामाजिक समरसताः समता की पूर्वपीठिका

1 भूमिका

विचार न केवल व्यक्तिगत जीवन, समाज की संरचना, संस्कृति और सभ्यता को प्रभावित करता है बल्कि उसकी दिशा भी निर्धारित करता है। अतः विचार में ठहराव किसी भी सभ्यता, समाज या संगठन के लिए समान रूप से हानिकारक है। विचार प्रभावी साबित हो इसके लिए स्वतंत्र अभिव्यक्ति के साथ–साथ आलोचनात्मक दृष्टिकोण और रचनात्मक भाव का होना आवश्यक है। प्राचीन काल में रोमन सभ्यता और आधुनिक काल में मार्क्सवाद दोनों के पतन का एक प्रमुख कारण यह था कि उनके विचारों में ठहराव आ गया था।

सभ्यताओं या राष्ट्रों में ऐसे अनेक जीवंत उदाहरण हैं जहां इस ठहराव को समाप्त करने के लिए परिणामकारी प्रयास किए गए। प्रयास के इसी क्रम में दास प्रथा का उन्मूलन एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अमेरिका के कुछ राज्यों में दास प्रथा विद्यमान थी जो किसी भी सभ्य समाज के लिए असहनीय है। अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने इस समस्या के निदान के लिए आर–पार की लड़ाई लड़ी यहां तक कि अमेरिका को गृहयुद्ध के दौर से गुजरना पड़ा। लिंकन एक राजनीतिज्ञ होने के साथ–साथ महान चिंतक भी थे लेकिन उससे भी बढ़कर उनका सामाजिक सरोकार था। यही कारण है कि जब सामाजिक स्तर पर समस्या का समाधान नहीं हुआ तब उन्होंने निर्णायक राजनीतिक कदम उठाया। अमेरिका में हुए

गृहयुद्ध में घायल, मारे गए और लापता सैनिकों की कुल संख्या लगभग 51,000 आंकी गई थी। इस घटना में मारे गए सैनिकों के लिए गैटसबर्ग में एक स्मारक बनाया गया जिसका उद्घाटन समारोह 19 नवम्बर 1863 को हुआ। लिंकन इस आयोजन के मुख्य अतिथि थे और एक अन्य अमेरिकी राजनेता इडवर्ड एवरेट्ट मुख्य वक्ता थे। एवरेट्ट ने दो घंटे से अधिक का भाषण दिया। भाषण पुस्तकीय ज्ञान पर आधारित और अत्यंत विद्वतापूर्ण था। जब लिंकन की बारी आई तो उन्होंने मात्र दो मिनट में अपना भाषण समाप्त कर दिया। लोग निराश हुए परंतु इन दो मिनटों में वे जो कह गए वह लोकतंत्र की सर्वमान्य और सर्वकालिक परिभाषा बन गई। उन्होंने कहा था कि "सरकार* जनता की, जनता के द्वारा और जनता के लिए है जो कभी धरती से समाप्त नहीं होगी।"

दूसरा प्रमुख उदाहरण दक्षिण अफ्रीका का है जहां नस्लवादी सत्ता के विरुद्ध लम्बा संघर्ष हुआ और अंततः श्वेत नस्लवादी शासन का अंत हुआ। यहां नेल्सन मंडेला का प्रेरणादायक नेतृत्व था। सत्ता में आने के बाद उन्होंने बदले की भावना को सामाजिक–राजनीतिक ताने–बाने से बाहर निकाला। उन्होंने नस्लवादी व्यवहार करने वालों को प्रायश्चित करने का अवसर दिया। दक्षिण अफ्रीकी सरकार ने Truth & Reconciliation Commission का गठन किया जो कि एक अद्वितीय प्रयोग एवं उदाहरण है। परंतु इन दोनों घटनाओं में जीत–हार का पक्ष निहित था। आज भी अमेरिका या दक्षिण अफ्रीका में नस्लीय भाव बहुत से लोगों की उपचेतना में विद्यमान है क्योंकि सामाजिक सांस्कृतिक जटिलताओं का राजनीतिक समाधान अनेक अनुत्तरित प्रश्न छोड़ जाता है जबकि दूसरी तरफ संगठित सामाजिक–सांस्कृतिक पहल हमेशा लघु पुनर्जागरण का आधार बनती है।

I

भारत में वैचारिक प्रवाह कभी भी ठहराव का शिकार नहीं हुआ और इसीलिए तमाम उत्थान–पतन के बावजूद सभ्यता की निरंतरता बनी रही, जो इसे विश्व–सभ्यता में एक अलग स्थान प्रदान करती है। यहां तक कि औपनिवेशिक काल में राजनीति की प्रधानता होते हुए भी सामाजिक–सांस्कृतिक–धार्मिक विषयों पर प्रखर विमर्श, वैचारिक संघर्ष और सशक्त पहल होती रही। इनके पीछे न तो राजनीतिक प्रेरणा थी न ही

*बाद में लिंकन के इस उद्धरण में 'सरकार' शब्द के स्थान पर 'लोकतंत्र' का प्रयोग होने लगा।

भावना, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक आंदोलनों ने ही राजनीति को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित और परिष्कृत किया। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में सुधार आंदोलनों के समक्ष हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं कर्मकांडों का संस्थाकरण हो जाने की बड़ी चुनौती विद्यमान थी। इसका समाज, संस्कृति और जीवन–दृष्टि पर गहरा नकारात्मक प्रभाव पड़ा। पर्दा, सती, बाल विवाह, विधवा विवाह, दहेज प्रथा, अस्पृश्यता जैसे अनेक सवालों ने भारत के स्वर्णिम विरासत और उज्जवल भविष्य के बीच खाईं उत्पन्न करने का काम किया। इस दौर में चिंतकों और सुधारकों ने कर्मकांडी सोच, विचार, व्यवहार और यथास्थितिवाद को तोड़ने में क्रांतिकारी भूमिका निभाई। यहां गौरतलब बात यह भी है कि भारत की बौद्धिक परंपरा में चिंतकों एवं सुधारकों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं रही। यह बात भारत और पश्चिम के बौद्धिक प्रवाहों में एक महत्वपूर्ण अंतर रेखांकित करती है। पश्चिम में अध्ययन का आधार विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक है और उस बौद्धिक परंपरा की अपनी एक खासियत है। वहां चिंतकों का एक अलग और स्वायत्त वर्ग बन जाता है। वे पुस्तकीय ज्ञान, अनुभव, विचार, पूर्वाग्रह और समझ के आधार पर बौद्धिक प्रवाह में शामिल होते हैं। वहीं दूसरी ओर भारत के चिंतकों ने सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को प्रयोगशाला की तरह देखा है। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन में सक्रिय रहते हुए उनकी जो समझ बनती रही वास्तव में उसी ने बौद्धिक प्रवाह को सबल करने का काम किया है। जिसके फलस्वरूप प्रत्येक चिंतक का एक सामाजिक आधार भी बनता चला गया। ऐसी अनगिनत उपधाराएं परिवर्तन की प्रक्रिया को सशक्त करने का काम करती रही हैं।

II

हिन्दू समाज की सभी समस्याओं में सबसे जटिल समस्या अस्पृश्यता एवं जातिभेद रहा है। हिन्दुस्तान का कोई भी कोना ऐसा नहीं था जहां अस्पृश्यता और जाति भेद नहीं था, न ही कोई कोना ऐसा था जहां इसके प्रतिकार के लिए स्वतंत्र, सशक्त और अखंड आवाज नहीं उठी। महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले (1827–1890) ने 'सत्य शोधक समाज' का गठन किया था। फुले का जातिभेद के विरुद्ध स्वर तीखा था। लेकिन वे साम्राज्यवाद को भी चुनौती दे रहे थे। 1882 में बालगंगाधर तिलक (1856–1920) के जेल से छूटने के बाद उनका, गोपाल गणेश आगरकर (1856–1895) और फुले का एक साथ सम्मान हुआ था। फुले ने ब्राह्मणों के आधिपत्य एवं अत्याचार पर सवाल उठाया परन्तु इसके कारण उनकी आवाज को खंडित करने के किसी भी प्रयास को कोई समर्थन नहीं मिला। तिलक और आगरकर की श्रेणी में परिगणित होकर वे समाज के स्वाभिमान के प्रतीक बने रहे।

दक्षिण भारत में रघुपति वेंकटरत्नम नायडू (1862–1939) एक मानवतावादी शिक्षाविद्, चिंतक और सुधारक थे। वे मद्रास विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। उनके एक पहल ने समाज को आत्मालोचन करने के लिए बाध्य कर दिया। 1904 में चेन्नई के निकट पोंतेरी से उन्होंने चार 'अछूत' अनाथ बच्चों को लाकर अपनी पुत्री के साथ उनका लालन–पालन किया और उनके शिक्षा की व्यवस्था की। इस प्रकार का दृष्टिकोण और साहसी कदम प्रांत ही नहीं, उसके बाहर के लोगों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बन गया।

पूर्वी भारत के ओडिशा प्रांत में फकीर मोहन सेनापति (1843–1918) साहित्य के माध्यम से कुप्रथाओं के विरुद्ध लोगों को जागरूक कर रहे थे। उनका यह कथन उनकी समता के प्रति प्रतिबद्धता को दर्शाता है : "वेदाधिकारी कौन है? अर्थात् वेद अध्ययन करने का अधिकार किसे है? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि वेद सनातन धर्म ग्रंथ है। मानव–जाति के साथ सृजित है और किसी भी जाति, धर्म, वर्ण के स्त्री–पुरुष को बिना किसी भेदभाव के इसके अध्ययन का अधिकार है।" उसी प्रांत में उनके समकालीन भीमा भोई (1850–1895) ने अस्पृश्यता जैसे प्रश्नों को ध्यान में रखकर कहा था कि "संसार के उद्धार के लिए मुझे नरक में रहना पड़ता तो वह भी मुझे स्वीकार है।"

केरल में जाति प्रथा तथा जाति भेद जितना अधिक गहरा था उतना ही तीव्र स्वर में उसका रचनात्मक प्रतिकार हुआ। सामंती ब्राह्मणों ने जब इजावा जाति के लोगों को शिव पूजा की अनुमति नहीं दी तब नारायण गुरु (1856–1928) ने अलग मंदिर का निर्माण करते हुए कहा था कि शिव के दो रूप हो गए : 'ब्राह्मण' शिव और 'इजावा' शिव'। नारायण गुरु दर्शन, अध्यात्म और सुधार के शिखर पुरुष थे। केरल में ही अय्याकाली जो स्वयं अस्पृश्य थे, उन्होंने अस्पृश्यों के मानवाधिकार का प्रश्न उठाया और शिक्षा से वंचित समुदाय के बच्चों की शिक्षा के लिए अभियान चलाया था।

भारत में इस काल के सामाजिक सुधार आन्दोलनों की एक प्रमुख बात यह थी कि यह केन्द्रीकृत नहीं था। छोटे–छोटे स्थानों, गांवों, शहरों एवं अन्य क्षेत्रों में सुधार की प्रक्रिया निरंतर चल रही थी और समाज सुधारक अपने–अपने स्तर पर प्रतिबद्धता के साथ सुधार आंदोलन चलाते रहे। हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि समाज सुधार आंदोलन का स्वरूप विकेन्द्रीकृत था, परंतु उसकी ध्वनि एक सिरे से दूसरे सिरे तक सुनाई पड़ती थी। एक ओर जहां केरल में कुमारन आशान (1873–1924), जो 1904 से 1919 तक मलयालम पत्रिका 'विवेकोदयम' के सम्पादक थे, साहित्य और पत्रकारिता के माध्यम से जाति–भेद एवं अस्पृश्यता पर गहरा आघात कर रहे थे। वहीं दूसरी तरफ लगभग तीन हजार किलोमीटर दूर पंजाब में लाला लाजपत राय अपनी लेखनी और

कृतित्व के द्वारा अस्पृश्यता एवं जाति भेद को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध थे। उनकी ध्वनि उसी तरह केरल में सुनाई पड़ रही थी जैसे नारायण गुरु का दर्शन उत्तर भारत के लोगों के अंतस् को झकझोर रहा था। कुमारन आशान ने 'विवेकोदयम' के सम्पादकीय में लिखा था–

"कोई ऐसा भारतीय नहीं होगा, जिसने लाला लाजपत राय का नाम न सुना हो। 'इंडियन रिव्यू' के विगत मई के अंक में उन्होंने निम्न जाति के लोगों के बारे में जो लिखा है, उससे परिचित होना सबके लिए आवश्यक है। इसलिए उस प्रकरण का अनुवाद करके हम यथावत् प्रस्तुत कर रहे हैं। उम्मीद यही है कि सभी पाठकों का ध्यान इस प्रकरण पर पड़ जाएगा।"[1]

III

विकेन्द्रीकृत अस्पृश्यता उन्मूलन अभियानों को केन्द्रीकृत करने का प्रयास स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद सरस्वती, महात्मा गांधी और डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार जैसे सुधारकों ने किया। महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता को राष्ट्रीय आपदा की तरह देखा और उनकी 'हरिजन यात्रा' (1933–34) एक तरह से पहला केन्द्रीकृत कार्यक्रम था। गांधीजी 9 महीनों तक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक हरिजन बस्तियों में गए। यह सामाजिक सुधार का एक जनांदोलन था। इस क्रम में उनका डॉ. भीमराव अम्बेडकर और उनके अनुयायियों से आलोचनात्मक विमर्श भी हुआ। यह भी उस काल का एक महत्वपूर्ण वैचारिक पक्ष है। उधर 'सनातनियों' ने सड़क से संवाद तक महात्मा गांधी के इस अभियान का विरोध किया और उन्हें काले झंडे दिखाए। इससे बिना

[1]लाला लाजपत राय ने लिखा था कि, "अस्पृश्य एवं पतित समझे जाने वाले तथाकथित निम्न जाति के लोगों की दर्दनाक स्थिति हमारी मानवीयता और नैतिक बोध के विरुद्ध तो है ही, सामाजिक संबंधों के हमारे विचारों के खिलाफ भी है। जब तक पतित कहे जाने वाले लोग इस हालत में रहेंगे, समाज की एकता की कल्पना असंभव प्रतीत होती है। एक बहुत बड़े समाज की तमाम शाखाओं के लोग जब तक मेल–जोल से नहीं रहेंगे तब तक उस बृहत् समाज का बौद्धिक एवं नैतिक विकास संभव प्रतीत नहीं होता है। समाज के सभी सदस्यों को ऊपर आना चाहिए। एक ही स्तर तक पहुंचना कठिन हो सकता है। लेकिन उस स्तर तक सबको पहुंचने की सुविधा मिलनी चाहिए जहां वे अपनी बुद्धि और योग्यता का उपयोग कर सकें।... हिन्दू धर्म में शामिल इन लोगों को हिन्दू धर्म से अलग करने का कार्य किया जा रहा है। अगर ये लोग नहीं हैं तो हिन्दुओं की शक्ति कमजोर पड़ जाएगी। इन्हें इनकी स्वतंत्रता प्राप्त न होने पर भी ये हिन्दू धर्म के सदस्य बने रहना चाहते हैं। इसलिए हिन्दू धर्म का कर्तव्य यही है कि इन अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों को स्पृश्य समझे, इनके नाम पर प्रचलित जहरीले विचारों को उखाड़ फेंके। जो हिन्दू यह नहीं कर सकता, चाहे वह इसके गलत परिणाम से जितना भी अनभिज्ञ क्यों न हो, वह जनसमाज का दुश्मन कहा जाएगा।"

विचलित हुए गांधीजी ने अपने अभियान को सबलता प्रदान करने के लिए 'हरिजन सेवक संघ' नामक संस्था की भी स्थापना की थी। अस्पृश्यता निवारण के लिए उन्होंने एक कोष बनाया और 'हरिजन' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन भी शुरू किया। परंतु गांधीजी का अन्तर्मन कांग्रेस का अन्तर्मन नहीं बन पाया और उनके जीवन काल में ही इस अभियान की क्षमता, तीव्रता, प्रभाव व आकर्षण क्षीण हो गया। अस्पृश्यता निवारण के सवाल ने गांधीजी को डॉ. हेडगेवार का घोर प्रशंसक बना दिया। महात्मा गांधी 1934 में वर्धा में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का शीत शिविर देखने आए थे। वहां उन्हें आश्चर्य तब हुआ जब उन्होंने ब्राह्मणों एवं महारों को सहज, स्वाभाविक और सरल तरीके से साथ–साथ जीवनचर्या निभाते देखा। उनके अंतर्मन को यह मूलभूत परिवर्तन छू गया। वे शिविर में आए तो थे मात्र कौतूहलवश परंतु सामाजिक परिवर्तन के प्रति संघ की प्रतिबद्धता और विशिष्ट स्वरूप ने उन्हें संघ को समझने के लिए बाध्य कर दिया। गांधीजी की दृष्टि में अस्पृश्यता निवारण एक कार्यक्रम था। परंतु उन्होंने देखा कि डॉ. हेडगेवार ने इसकी वैचारिक शल्य चिकित्सा कर एकत्व पैदा करने का दुर्लभ काम किया है। संघ के लिए यह हिन्दुओं के वैश्विक दृष्टि में परिवर्तन का अहम हिस्सा था। उन्होंने संघ के संस्थापक से मिलने की इच्छा जाहिर की और बाद में दोनों के बीच रचनात्मक संवाद भी हुआ। अस्पृश्यता को मिटाने का अर्थ किसी को सिर्फ अस्पृश्य न मानना ही नहीं है अपितु इसका अंतिम लक्ष्य मन से विकार मिटाकर सामाजिक समता स्थापित करना है।

समाज में एक वर्ग ऐसा भी होता है जो समानता और सद्भाव की दलीलें तो देता है परन्तु वास्तव में यह सब उसका वैचारिक विलास मात्र होता है। वह केवल उसका पेशेवर वक्ता और श्रोता होता है, कर्त्ता बनने का साहस उसमें नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति पर प्रहार करते हुए महाराष्ट्र के प्रसिद्ध समाज सुधारक महादेव गोविन्द रानाडे (1842–1901) ने एक विवेकपूर्ण सवाल उठाया था। घटना तब की है जब महात्मा गांधी (1869–1948) दक्षिण अफ्रीका में श्वेतों द्वारा भारतीय मूल के लोगों के प्रति भेदभावपूर्ण और अपमानजनक व्यवहार के विरुद्ध आवाज उठाने के बाद भारत दौरे पर आये थे। उन्होंने बताया कि किस प्रकार नटाल, केप कॉलनी और ट्रांसवाल में भारतीयों के साथ असभ्य और अमानवीय व्यवहार होता है। रानाडे स्वयं गांधीजी के सम्पर्क में थे और उनके सलाहकार भी थे। सभा मुंबई के हिन्दू यूनियन क्लब में थी। रानाडे ने गांधीजी के प्रयासों और भारतीयों की मांगों का समर्थन करते हुए उपस्थित लोगों से पूछा कि क्या यह सद्भावना दक्षिण अफ्रीका में अपमानित, प्रताड़ित और दंडित भारतीयों तक ही सीमित है या उन सब लोगों के लिए भी है जो इस प्रकार अपमानित किये जाते हैं? उन्होंने आगे प्रश्न किया कि अपने देश में एक बड़े वर्ग के

साथ खुलेआम उत्पीड़न, असभ्य व अमानवीय व्यवहार को देखकर भी मौन रहने वालों के लिए क्या अफ्रीकी लोगों की निंदा करना उचित है? रानाडे के इस संवाद में एक आलोचनात्मक अवधारणा छिपी थी। विचार और व्यवहार जब तक पूरी तरह एकमेव नहीं होते तब तक वे प्रभावी नहीं हो पाते हैं। इसलिए परिवर्तन के सारथी वही बन पाए जिन्होंने इस बुराई की पीड़ा का अनुभव किया।

अस्पृश्यता मिटाने का प्रयास एक लंबे कालखंड से चल रहा है। इस दौर में अस्पृश्यता विरोधी साहित्य और सभाओं की कमी नहीं रही है। जहां अपेक्षित परिणामों का सामने न आना चिंता का विषय तो है ही वहीं अस्पृश्यता का जहां अंत भी हुआ है वहां भी यदा–कदा ही सही भेदभावपूर्ण आचरण की घटनाएं सामने आना और भी पीड़ादायक है। अवमानना, अपमान और भेदभाव के अनुभवों को आधार बनाकर लिखे जा रहे वृत्तांत (Narratives of Victimhood) इसके प्रमाण हैं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1920 के अपने राजनीतिक प्रस्ताव में अस्पृश्यता निवारण को शामिल किया था। आज लगभग सौ सालों के बाद भी करीब ढाई सौ प्रकार की अस्पृश्यता हिन्दुस्तान में प्रचलन में है। जिनमें मंदिर से लेकर रसोई घरों में प्रवेश तक शामिल है। वास्तव में अस्पृश्यता का बना रहना समाज की सामूहिक विफलता मानी जाएगी। इस दोषारोपण से अति यथास्थितिवादियों से लेकर अति प्रगतिशील तक कोई भी बच नहीं सकता। पिछली एक शताब्दी में देश भर में अस्पृश्यता और जात–पात को मिटाने के लिए सैंकड़ों संगठन बनाए गए। इनमें हरिजन सेवक संघ, जात–पात तोड़क मंडल और सत्य शोधक समाज आदि उल्लेखनीय हैं। हमारे सामने यह विचारणीय प्रश्न है कि आखिर वे क्यों निष्प्रभावी हो गए? दूसरी तरफ यह भी सत्य है कि समाज सापेक्ष बदलाव भी सहज तरीके से निरंतर चलता रहा है। समाज में हर समय सकारात्मक स्थितियां मौजूद रहती हैं और प्रगतिशील सोच वाले लोग भी सक्रिय रहते हैं। उदाहरण के लिए श्री जगजीवन राम ने अपने संस्मरण में इस बात का उल्लेख किया है कि कथित सवर्ण उनके पिताजी का प्रवचन सुनते थे और उनका पांव भी छूते थे। जाहिर है समाज में प्रतिक्रियावाद और प्रगतिशीलता दोनों का अंश होता है। यहां चिंतनशील नेतृत्व का दायित्व होता है कि सामाजिक प्रतिक्रियावाद का अंत करने के लिए तात्कालिक लाभ–हानि की सोच से बाहर निकलकर पहल करे।

IV

डॉ. हेडगेवार समाज सुधार की प्रक्रिया में व्यक्तिगत या संगठनात्मक प्रयासों की सीमाओं को समझते थे। परिवर्तन अविरल कैसे रहे इस प्रश्न का समाधान उन्होंने संघ

कार्य के द्वारा किया। उनका मानना था कि सामाजिक ऊँच–नीच को समाप्त करने में प्रतिबद्धता, भावना, विवेक और व्यवहार इन चारों बातों की आवश्यकता होती है। इनमें से किसी एक की भी अनुपस्थिति उद्देश्य को अपूर्ण एवं विकलांग बना देती है। व्यक्ति या समूह की सुधार के प्रति वैचारिक सहमति हो परंतु भावनात्मक अंश न हो तो वह मात्र संवादक बनकर रह जाता है और संवाद भी जमीनी हकीकत से परे होता है। सिर्फ भावना ही हो तो वह जमीनी हकीकत नहीं बन पाती है। इन दोनों के साथ विवेक के स्तर पर समस्या के प्रति तार्किक सहमति और साहसिक प्रतिबद्धता आवश्यक है। डॉ. हेडगेवार ने इन चारों को एक भाव में पिरोने का काम किया।

संघर्ष और संख्यात्मक दबाव या लोकतांत्रिक मूल्यों के कारण समानता की स्वीकृति अपने गर्भ में विभेद, ईर्ष्या, विखंडन का बीज पालती है। यदि अश्वेतों की संख्या कम होती तो क्या समानता के लिए संघर्ष मुमकिन था? जाहिर है कि तब तो दया के भाव से या लोकतंत्र के दबाव में उन्हें समानता की भीख दी जाती। वास्तव में समानता प्राप्त करने के लिए मानवता का प्रथम सिद्धांत आत्मसात करना आवश्यक होता है और वह है मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार का सिद्धांत। सम्मान, स्वायत्तता और समान अवसरों के साथ जीने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार है। जो व्यवस्था, परंपरा, संस्कृति, दर्शन या धर्म मनुष्यों के बीच भेदभाव को वैधानिकता प्रदान करता है वह प्रकृति की मूल अवधारणा को चुनौती देता है। इसलिए दुनिया के हर हिस्से में समय–समय पर सकारात्मक समानता के लिए प्रयास होते रहे हैं। भारत तो समाज सुधारकों की एक जीवंत प्रयोगशाला रहा है। जहां कहीं भी असमानता एवं विषमता का प्रकोप हो उसे समाप्त करने के लिए पहल यहां होती रही है। इसमें संख्या बल का दबाव नहीं रहा है अपितु मनुष्य की प्रकृति, विवेक, मन–मस्तिष्क को संबोधित कर भ्रातृत्व के साथ समानता प्राप्त करने की शैली श्रेयष्कर रही है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वंचित, पीड़ित और प्रताड़ित मनुष्य संघर्ष न करे। लोकतांत्रिक संघर्ष अपने आप में एक वैधानिक और नैतिक हथियार होता है। परंतु यहां यह जानना आवश्यक हो जाता है कि संघर्ष का दर्शन क्या है? क्या यह मात्र आधिपत्य स्थापित करने या अपना हक प्राप्त करने का उपकरण है या इसके पीछे व्यवस्था के मूल दोषों को दूर करना उद्देश्य है। मूल दोषों को दूर करने के लिए संगठित संघर्ष और सुधार में कोई फर्क नहीं रह जाता है। बल्कि दोनों एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं।

इन सभी व्यक्तिगत एवं संगठित प्रयासों के बावजूद आज भी अस्पृश्यता चारो तरफ अपने विभिन्न विकृत रूपों में विद्यमान है। यह हमारी सभ्यता, संस्कृति और कथित आधुनिकता पर कलंक है। स्वतंत्रता के बाद इस समस्या के राजनीतिक समाधान ढूंढने के प्रयास हुए। परंतु अपेक्षित सफलता नहीं मिली। बल्कि अनेक दूसरी समस्याएं

भी उपजती रहीं जिनमें ध्रुवीकरण एक प्रमुख समस्या है जो समाज, साहित्य एवं राजनीतिक स्तरों पर दिखाई पड़ती है। सामाजिक सरोकारों से जुड़े चिंतकों एवं सुधारकों के मन में पीड़ा की अभिव्यक्ति और अपेक्षित सफलता न मिलने के अफसोस ने उनकी वाणी, प्रयासों और संकल्पों को मजबूती प्रदान करने का काम किया है। बदलाव के प्रति इनकी वैश्विक दृष्टि का फलक परंपरागत दृष्टि से कहीं अधिक बड़ा है। ऐसे चिंतकों की दृष्टि में अस्पृश्यता समाप्त करने के साथ–साथ उससे पीड़ित लोगों का आर्थिक एवं राजनीतिक सशक्तिकरण करना भी आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इस पुस्तक में ऐसे ही चार अध्याय हैं जो नव सामाजिक क्रांति की घोषणापत्र के समान हैं। इसमें तीन चिंतकों का भाषण/आलेख सम्मिलित किया गया है और एक ऐतिहासिक प्रस्ताव जिसे धर्मगुरुओं ने परस्पर मतभेद, मतान्तर को छोड़कर अस्पृश्यता के प्रश्न पर एकजुटता जाहिर करते हुए स्वीकृत किया है।

अस्पृश्यता के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पक्ष हैं। यह सामाजिक आंदोलन कैसे बने, समाज के सभी वर्गों की सहज और भावनात्मक भागीदारी कैसे बढ़े इस प्रश्न को वैचारिक रूप से ढूंढ़ने का प्रयास उन चिंतकों के द्वारा हुआ जो समाज की जमीनी हकीकत और उसके विभिन्न आयामों के साथ एकलय हैं।

V

सन् 1969 में विश्व हिन्दू परिषद का प्रांतीय अधिवेशन उडुपी में हुआ। हालांकि यह इसकी स्थापना के महज पांच वर्ष बाद की बात है परन्तु इसका ऐतिहासिक महत्व है। परिषद के इस सम्मेलन में हिन्दू साधु–संतों, सन्यासियों और धर्मगुरुओं को आमंत्रित किया गया था। एक लम्बी प्रक्रिया के तहत इन साधु–संत–सन्यासियों–धर्मगुरुओं से विमर्श और संवाद हुआ। सामाजिक समस्या से जूझने में उनकी भूमिका, आवाज और सक्रियता की अपेक्षा के साथ संघ उनसे लगातार संवाद कर रहा था। धर्मगुरुओं और संस्थाओं की प्रगतिशील सामाजिक–आर्थिक व सांस्कृतिक परिवर्तन में अहम भूमिका होती है। उनकी अपील का त्वरित असर होता है। एक और भी महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि उनकी अपील के बाद सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए रूढ़िवादी तत्वों और विचारों से मुकाबला करना आसान हो जाता है और तब ऐसे तत्व धर्म की आड़ नहीं ले पाते हैं। उडुपी प्रस्ताव में अस्पृश्यता को मन, कर्म, विचार और व्यवहार से बाहर निकालने का आह्वान था जिसमें सामूहिक रूप से संतों की अपील ने उस आडम्बर को ध्वस्त किया कि अस्पृश्यता के पीछे धर्म और धार्मिक पुस्तकों का समर्थन है।

सामाजिक बुराईयों से जूझने के लिए वैचारिक स्पष्टता आवश्यक है। आधे–अधूरे मन से किया गया प्रयास कर्मकांड बनकर रह जाता है। इसीलिए संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री माधव सदाशिव गोलवलकर ने अस्पृश्यता निवारण के लिए सम्मेलनों, प्रस्तावों या निजी जिंदगी में आदर्शवादी आचरण को अपूर्ण माना। उनके द्वारा संघ के एक वरिष्ठ कार्यकर्ता श्री सूर्यनारायण राव को लिखा गया पत्र दूसरे अध्याय में शामिल किया गया है। श्री गोलवलकर ने इस बात को स्थापित किया है कि सामाजिक बुराईयों को समाप्त करना ही अंतिम उद्देश्य नहीं है बल्कि सकारात्मक सामाजिक वातावरण के निर्माण के लिए उन्होंने अस्पृश्यता निवारण में 'अतीत में हुई भूलों के लिए पश्चाताप जनित विनम्रता' का होना भी आवश्यक माना है। श्री गोलवलकर के पत्र का एक दूसरा आयाम भी है जिसके अनुसार उनका मानना है कि अस्पृश्यता निवारण दया, परोपकार, कृतज्ञता का कार्य न होकर स्वयं को उस दोष/पाप से मुक्त करने का अवसर है जिसके लिए हम सामूहिक रूप से जिम्मेदार हैं। यह मात्र पत्र न होकर सामाजिक परिवर्तन का एक क्रांतिकारी घोषणा पत्र है जिसका सार्वदेशिक और सार्वकालिक महत्व है। श्री गोलवलकर ने उस भाव का निषेध किया है जिसमें सुधार के लिए प्रयत्नशील वर्ग अपनी गुरुतर जिम्मेदारी के मनोभाव से ग्रस्त होता है। इसे उन्होंने आवश्यक सामाजिक और नैतिक कार्यवाही माना है। वे इस सामाजिक एवं नैतिक कार्यवाही से जुड़े लोगों में 'कर्मयोगी जैसी निष्ठा' की अपेक्षा रखते हैं और उनके कार्य की शैली ऐसी होनी चाहिए कि श्रेय या धन्यवाद लेने की अपेक्षा भी न रहे। उनकी ये पंक्तियां उन बुनियादी मूल्यों का शंखनाद हैं जिनका क्षरण संकीर्णता के प्रभाव में पूरी दुनिया में देखा जा सकता है। वे लिखते हैं– "हमें छुआछूत और ऊँच–नीच के भेदभावों एवं परस्पर मतभेदों को बिल्कुल समाप्त कर, उन्हें भूलकर आगे बढ़ना है ताकि सम्पूर्ण हिन्दू समाज एकात्म बन्धुभावना से संचालित हो सके। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे की भूख–प्यास और पीड़ा का अनुभव होना चाहिये और यह कार्य तभी हो सकता है जब कि धर्म को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यावहारिक रूप दिया जाये।"

तीसरे अध्याय में 1974 में पूना की 'वसंत व्याख्यानमाला' में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तृतीय सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस का भाषण है। स्वतंत्रता के बाद लगातार समाज पर राजनीति हावी होती रही। सामाजिक–सांस्कृतिक प्रश्नों को राजनीतिक गलियारे से राजनीतिक हित/अहित की दृष्टि से देखा जाने लगा और सामाजिक बदलाव राजनीतिक नारा बन गया। श्री देवरस ने अपने भाषण में समकालीन भारतीय समाज के ताने–बाने का विश्लेषण करते हुए संपूर्ण परिवर्तन का आह्वान किया।

उन्होंने यथास्थितिवाद पर कड़ा प्रहार किया और कहा कि समाज को सतत प्रगतिगामी सोच रखना चाहिए। समाज के हित में युगानुकूल व्यवस्थाएं बननी चाहिए। वे कहते हैं, "प्राचीन काल में जो व्यवस्थाएं बनी थीं वे उस काल की आवश्यकता के अनुरूप तैयार की गई थीं। आज यदि उनकी आवश्यकता न हो, उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई हो, तो हमें उनका त्याग करना चाहिए।" उन्होंने वर्तमान में वर्ण–व्यवस्था के विकृत स्वरूप को बदलने की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा, "अस्पृश्यता अपने समाज की विषमता का एक अत्यंत दुःखद और दुर्भाग्यजनक पहलू है।" उन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध जन–आंदोलन, जन–भागीदारी, जन–चेतना उत्पन्न करने में सामाजिक संगठनों से अहम भूमिका निभाने की अपेक्षा की। उनका यह कथन उद्वेलित करने वाला सिद्ध हुआः "अगर अस्पृश्यता पाप नहीं है तो कुछ भी पाप नहीं है।"

अंतिम अध्याय संघ के वरिष्ठ चिंतक श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी के भाषणों पर आधारित आलेख है। श्री ठेंगड़ी ने पश्चिम के लोकतंत्र और उदारवाद के उस अधिष्ठान पर सवाल किया है जो समानता को स्वायत्त मानता है। दूसरे शब्दों में उनकी अवधारणा के अनुसार संघर्ष, विवाद और न्यूनताओं के हटते ही लोगों के बीच समानता स्थापित हो जाती है। वे प्रश्न करते हैं क्या ऐसा हो पाता है? इस बात से उनकी सहमति है कि सभी प्रकार के बाधक तत्वों का हटना आवश्यक है और उन्हें सुधार या संघर्ष से हटाया जाना चाहिए। परंतु वे समानता को स्वायत्त नहीं मानते हैं। वह अपने आप में पूर्ण नहीं होती क्योंकि विभेद तो हट जाता है लेकिन मनभेद बना रह जाता है। इसके अलावा ऐसी समानता को लोग जीत–हार के रूप में देखते हैं। प्रगतिशीलता का ढोंग या परिवर्तन को नहीं रोक पाने की लाचारी, दोनों से सकारात्मक पक्ष विलुप्त रहता है। ठेंगड़ी सुधार और संघर्ष की प्रक्रिया में उस दर्शन को स्थापित करते हैं जिसमें भ्रातृत्व की प्रधानता होती है, भूलों के लिए पश्चाताप होता है, पहल के लिए साधुवाद का भाव होता है तथा समान उद्देश्य की कामना एवं आकांक्षा होती है। परिवर्तन का चक्र तभी पूर्ण होता है जब मन, वचन, कर्म से हम एकत्व का बोध करते हैं। वे डॉ. भीमराव अम्बेडकर और डॉ. हेडगेवार के प्रयासों में सार्थक समानता देखते हैं। डॉ. अम्बेडकर पर उठे सवालों को निरर्थक मानकर उनकी भूमिका को अत्यंत ही समाजोपयोगी मानते हैं। श्री ठेंगड़ी की वैश्विक दृष्टि में समरसता समता की मां है जो इसे पालती–पोसती और सशक्त बनाती है।

अस्पृश्यता उन्मूलन हेतु प्रयासों, संवादों एवं संघर्ष का सिलसिला चलता रहा और उसके सकारात्मक परिणाम भी सामने आते रहे। ऐसे प्रयास चाहे व्यक्तिगत, सामूहिक, संगठनात्मक, वैचारिक या संघर्षात्मक जिस रूप में भी हो सभी का स्वागत होना

चाहिए। एक प्रश्न जो हमारे कानों में लगातार गूंजता रहता है वह यह है कि आज भी हमारे समाज की प्रगतिशीलता चोखामेला जैसे अपवादों पर ही क्यों आश्रित है? 14वीं शताब्दी में पहली बार एक मंदिर में एक अस्पृश्य चोखामेला को पुजारी बनाया गया था। आज भी इसी तरह का अपवादस्वरूप प्रयास चल रहा है। क्या सात सौ वर्षों बाद भी अस्पृश्यता का प्रश्न हमारी बौद्धिकता के लिए एक साधन बना रहेगा? सदियों पुरानी इस बीमारी की जटिलता को भी समझना होगा।

इसमें सामंतवादी छाप, हीनता और क्रूरता तो है ही साथ ही संवेदनहीनता तथा मानसिक जकड़न भी है। अस्पृश्यता को समाप्त करने का कम प्रयास नहीं हुआ है पर जो हुआ है वह भी कम ही साबित हुआ है। अतः अस्पृश्यता और उससे उपजे प्रश्नों पर गंभीर मंथन और साहसिक एवं निर्णायक सामाजिक, सांस्कृतिक हस्तक्षेप की आवश्यकता है। पुस्तक के चारो अध्याय हमें उसी दिशा में ले जाते हैं। इन चारो अध्यायों से एक स्वर निकलता है वह यह है कि अस्पृश्यता निवारण अनंतकाल का कार्यक्रम बनकर न रह जाए।

राकेश सिन्हा

16 जुलाई, 2014

2 अस्पृश्यता धर्म विरोधी कृत्य है

विश्व हिन्दू परिषद का उडुपी प्रस्ताव

सामाजिक परिवर्तन सिर्फ नारों, कल्पनाओं और सद्‌विचारों से नहीं होता है। इसमें यथार्थ से जूझना पड़ता है। पग–पग पर प्रतिरोध की संभावनाएं बनी रहती हैं। यथास्थितिवाद समाज की संरचनाओं का पोषण करने की वैचारिक और मानसिक अवस्था होती है। इस जड़ता को समाप्त करने के लिए सबसे आवश्यक होता है समाज–संस्कृति–धर्म के पर्यावरण को बदला जाना और इस क्रम में उन लोगों को सक्रिय करना जिनके शब्दों, आचरण और उपस्थिति का सबसे अधिक असर सामान्य लोगों में होता है। इसलिए अस्पृश्यता के प्रश्न पर विश्व हिन्दू परिषद ने साधु–संतों, धर्मगुरुओं को एक मंच पर लाने का काम किया। 13–14 दिसम्बर 1969 को कर्नाटक प्रान्त के उडुपी में विश्व हिन्दू परिषद कर्नाटक प्रान्त का प्रथम हिन्दू सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इसमें शैव, वीर शैव, मध्व, वैष्णव, जैन, सिख आदि भिन्न–भिन्न संप्रदायों के धर्मगुरु शामिल हुए। जिनमें प्रमुख हैं सिद्धगंगा तुमकुर मठ के स्वामी, अड्‌मार मठ उडुपी के स्वामी, गोकर्ण पर्तगली मठ के स्वामी, मुतुगराजेन्द्र मठ के स्वामी, वनवासियों के चेन्नवीर स्वामी, उद्‌गिर के शैवाचार्य स्वामी, दक्षिणापथ, आसाम के श्री रामानन्द गोस्वामी और बंगलुरु के बुधरक्षित थेर। सम्मेलन की विराट सफलता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 5,000 लोगों के अनुमानित आगमन के स्थान पर वहां 15,000 लोग एकत्रित हुए।

इस अवसर पर संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री माधव सदाशिव गोलवलकर (श्रीगुरुजी) भी उपस्थित थे।

सारांश

अस्पृश्यता हिन्दू समाज की सबसे हानिकारक व्याधि है। इसने सामाजिक प्रगति, संतुलन एवं सद्भाव सबको गहरी चोट पहुंचाने का काम किया है। यह एक विकार या दोष मात्र न होकर सभ्य समाज के लिए काजल से भी अधिक काला कलंक है जो हिन्दू समाज के मूल चरित्र को नष्ट करता है। भ्रातृत्व, उदार मन, और समानता का भाव प्रत्येक हिन्दू की मौलिक प्रकृति और लक्ष्य दोनों होता है। अस्पृश्यता के प्रवेश ने स्वस्थ सामाजिक पर्यावरण को ही नष्ट करने का काम किया है। इसे ठीक करने के लिए बहुआयामी प्रयासों की जरूरत होती है।

श्री गोलवलकर का यह कथन इस संदर्भ में अत्यंत ही सार्थक और प्रासंगिक है। उन्होंने कहा कि भारत जैसे धर्मपरायण देश में इस तरह का कोई भी प्रयास धर्मगुरुओं का सहयोग लिए बिना सफल नहीं हो सकता। आम लोगों के मन से छुआछूत व भेदभाव की भावना मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि संत–समाज इस हेतु लोगों का आह्वान करें। इस सम्मेलन में ठीक ऐसा ही हुआ। सम्मेलन में साधु–संतों एवं धर्मगुरुओं ने माना कि समाज में व्याप्त कुरीतियां समाज के विघटन का कारण होती हैं।

अस्पृश्यता धर्म विरोधी कृत्य है

शताब्दियों से जड़ जमाए सामाजिक बुराईयों को समाप्त करने में अनेक स्तरों पर प्रतिरोधों का सामना करना पड़ता है। विवेक बनाम बंद दिमाग के बीच का यह संघर्ष होता है। इस प्रकार का संघर्ष सामाजिक जीवन को क्षत–विक्षत करता है एवं अस्मिता की छद्म लड़ाई में अस्वस्थ ध्रुवीकरण शुरू हो जाता है। ऐसे संघर्षों में विवेक और तर्क के खिलाफ प्रतिक्रियावादी धाराओं और ताकतों का भी उदय होता है। भारतीय समाज जिस एक बुराई से पूर्ण रूप से निजात पाने में सफल नहीं हो पाया है वह है अस्पृश्यता अर्थात छुआछूत की समस्या।

छुआछूत सामाजिक पिछड़ेपन, ठहराव, प्रतिक्रियावाद व पाखंड का प्रतीक है। यह सिर्फ एक सामाजिक बुराई ही नहीं है बल्कि यह मानवीय अपराध और अमानवीय व्यवहार है। क्या दो मनुष्यों के बीच उनके जन्म के आधार पर अंतर कर एक को 'ऊँच' और दूसरे को 'नीच' मान लेना प्रकृति के नियमों की अवहेलना और एक सनातन संस्कृति का घोर निषेध नहीं है?

प्राकृतिक अधिकारों में सबसे बुनियादी बात व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसका सम्मान है। कोई भी सामाजिक परंपरा एवं कानून इस प्रकृति प्रदत्त स्वाभाविक अधिकार का निषेध नहीं कर सकता है। यदि करता है तो उसका प्रतिकार होना चाहिए।

जिस समाज की आधारभूत संरचना में धर्म और अध्यात्म का महत्व सबसे अधिक हो उस समाज में बदलाव के लिए धर्मगुरुओं, धार्मिक प्रतिष्ठानों और आचार्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। साधारणतया धर्मगुरुओं में सामाजिक सुधारकों की त्वरित सक्रियता और उनकी तरह आक्रामक रुख का अभाव होता है। जो कई प्रकार के कर्मकांडों को तथा उनके अनुशंसकों के सामाजिक आधार और दृष्टिकोणों को निर्धारित करता है। कर्मकांड और धर्मग्रंथों की अनुचित व्याख्या भी अड़चन का काम करती है।

भारतीय परिवेश में अस्पृश्यता कर्मकांडों के पाखंड, सामंती सामाजिक सोच और सामाजिक–शैक्षणिक विषमता के त्रिकोण से ग्रसित रही है। इसे जड़मूल से समाप्त करने के लिए धर्मगुरुओं को तैयार करना, उन्हें उनके धर्मग्रंथों, धार्मिक कर्मकांडों, प्रवचनों और प्रतिष्ठानों से बाहर निकालकर सामाजिक सुधारकों की भूमिका में खड़ा करना एक चुनौती रही है। यह आसान काम नहीं है। धर्मगुरु अलग–अलग धार्मिक व्यवस्थाओं, संप्रदायों, परंपराओं और सामाजिक आधारों से बंधे होते हैं। उनके बीच एक राय बनाकर उन्हें प्रगतिशील सामाजिक कदम के लिए तत्पर कर ऐसी बुराईयों का मुकाबला सहज हो जाता है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने साठ के दशक में धर्मगुरुओं को इस प्रगतिशील पहल के लिए प्रतिबद्ध करने का प्रयास किया था। इस प्रयास में कितनी ऊर्जा लगी होगी, कितना प्रतिरोधों का सामना करना पड़ा होगा यह एक भिन्न विषय है। भारतीय धर्मगुरुओं की संवेदनशीलता एवं उनके सामाजिक सरोकार और परिवर्तन के लिए प्रतिबद्धता का अटल इतिहास रहा है। वे राष्ट्रीय जीवन में निरंतर प्राण फूंकने, मनुष्यता की प्रतिष्ठा करने और लोगों में सरोकार उत्पन्न करने का काम भिन्न–भिन्न रूपों में शताब्दियों से करते आए हैं।

इस सम्मेलन में इस बात पर गहन चिंतन–मनन हुआ कि सामाजिक बदलाव में धर्म की अनुचित, अपूर्ण एवं भ्रामक व्याख्या तथा कर्मकांड बाधा बने हुए हैं। श्री गोलवलकर ने अपने भाषण में कहा कि रूढ़ियाँ धर्म नहीं हैं, हमें वास्तविक धर्मतत्त्व को समझकर हिन्दू धर्म की विजय ध्वजा को सर्वत्र फहराना है। हमें छुआछूत और ऊँचनीच के भेदभावों एवं परस्पर मतभेदों को बिल्कुल समाप्त कर एवं उन्हें भूलकर आगे बढ़ना है ताकि सम्पूर्ण हिन्दू समाज एकात्म बन्धुभावना से संचालित हो सके। उन्होंने कहा कि 'न हिन्दू पतितो भवेत्' (हिन्दू कभी पतित नहीं हो सकता)। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को एक–दूसरे की भूख–प्यास और पीड़ा का अनुभव होना चाहिये और यह कार्य तभी हो सकता है जब कि धर्म को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यावहारिक रूप दिया जाये। आज

हमारे समाज को उपदेशों की नहीं आचरण की आवश्यकता है। यह बदलाव को सामाजिक क्रांति में बदलने का आह्वान था, जिसमें अध्यात्म की ऊर्जा और ऊष्मा का उपयोग प्रतिरोधक ताकतों से लड़ने और समरस समाज का निर्माण करने में लगाने की प्रतिबद्धता जाहिर की गई। यह प्रस्ताव अत्यंत ही लघु रूप में था। परंतु इसके हर शब्द से अदभुत प्रेरणादायक, प्रभावकारी और परिणामकारी ऊर्जा का संचार होता है। प्रस्ताव में धार्मिक और सामाजिक कर्मकाण्डों में समानता का आह्वान् करते हुए कहा गया कि सभी हिन्दुओं को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि वे भारतमाता की सन्तान हैं अतः उन्हें अस्पृश्यता और ऐसी अन्य सामाजिक कुरीतियों का बहिष्कार करना चाहिये। समस्त हिन्दू समाज को अविभाज्य एकात्मता के सूत्र में पिरोकर संगठिन करने एवं स्पृश्य–अस्पृश्य की भावना व प्रवृत्ति से प्रेरित विघटन को रोकने के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विश्व–भर के हिन्दुओं को अपने पारस्परिक व्यवहार में एकात्मता एवं समानता की भावना को बरकरार रखना चाहिये। इस सम्मेलन का सन्देश था–

न हिन्दू पतितो भवेत्। (हिन्दू कभी पतित नहीं हो सकता)

हिन्दवः सोदराः सर्वे। (सभी हिन्दू भाई–भाई हैं, सहोदर हैं)

मम दीक्षा हिन्दू रक्षा। (मेरी दीक्षा हिन्दुओं की रक्षा है)

मम मन्त्रः समानता। (समानता मेरा मन्त्र है)

अस्पृश्यता की पीड़ा और परिणामों के नीचे दबे भारत के लिए ये सूत्र पुस्तकीय ज्ञान की कोई धरोहर बनकर रहने की जगह सक्रियता की अपेक्षा रखते हैं।

3 पश्चाताप जनित विनम्रता का सिद्धांत

(19 फरवरी, 1906 — 5 जून, 1973)

माधव सदाशिव गोलवलकर

माधव सदाशिव गोलवलकर आधुनिक भारत के श्रेष्ठतम चिंतकों में से एक हैं। उन्होंने अपने चार दशकों के सार्वजनिक जीवन में भारत के चिति एवं चिंतन को सशक्त आधार प्रदान करने का कार्य किया। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से 1929 में जुड़े और 1940 में द्वितीय सरसंघचालक बने। यह वह दौर था जब पाश्चात्य दर्शन, मार्क्सवाद और औपनिवेशिक मानसिकता तीनों के संयुक्त प्रभाव से भारत की चिंतनधारा 'स्व' से दूर होती जा रही थी। इसने सामान्य लोगों को इस हद तक विभ्रम में डालने का काम किया था कि वे 'हम कौन हैं?' के उत्तर में प्रतिरक्षात्मक होते जा रहे थे। तब गोलवलकर का मौलिक चिंतन एक बौद्धिक विमर्श का सशक्त हस्तक्षेप सिद्ध हुआ। उन्होंने विमर्श को एकांगी नहीं रहने दिया। विग्रह और विभ्रम के राजनीतिक और बौद्धिक उपक्रम के सामने उन्होंने सांस्कृतिक विरासत और चेतना से ओतप्रोत बौद्धिकता का बीजारोपण किया। उनकी पुस्तक 'विचार नवनीत' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। स्वतंत्र भारत की नेहरू सरकार की दमनकारी नीति का अहिंसक और निर्भीक तरीके से प्रतिकार उनके सक्षम और सफल नेतृत्व का परिणाम था।

राष्ट्र–निर्माण में राजनीतिक मतभेद को वे अड़चन नहीं मानते थे। वे देश में वैकल्पिक राजनीति की भी प्रेरणा बने। संघ के सहयोग से 1951 में भारतीय जनसंघ की स्थापना की गई। वे मानते थे कि सामाजिक–सांस्कृतिक बदलाव व परिष्कार से उत्पन्न स्वस्थ समाज ही राष्ट्र को पराक्रम प्रदान कर सकता है। उनके द्वारा संघ के वरिष्ठ स्वयंसेवक श्री सूर्यनारायण राव को 14 जनवरी, 1970 को लिखा गया पत्र एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है जिसकी प्रासंगिकता काल और भूगोल की सीमा से परे है।

सारांश

सभा, सम्मेलनों, भाषणों और प्रस्तावों से समस्या का निदान नहीं होता है। अस्पृश्यता के विरुद्ध पारित प्रस्ताव को अपने आचरण में उतारकर घर–घर, गांव–गांव, नगर–नगर में वैसा आचरण सुनिश्चित करना है। ऐसा करने में श्रेय लेने या अहम का भाव न होकर पश्चाताप जनित विनम्रता होनी चाहिए। अस्पृश्यता मिटाने के साथ–साथ पीड़ित लोगों का आर्थिक एवं राजनीतिक सशक्तिकरण भी आवश्यक है। शिक्षा का उपयोग समाज–प्रबोधन में होना चाहिए। धर्म का रूपांतरण अंधविश्वासी अनुष्ठानों में हो गया है। इसे बदलने के लिए एक कर्मयोगी जैसी निष्ठा की आवश्यकता है।

दूसरों पर दोषारोपण एक नकारात्मक प्रवृत्ति है। इससे बचना चाहिए और सकारात्मक ऊर्जा के साथ काम करना चाहिए। मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदभाव अप्राकृतिक, अवांछित और अनापेक्षित है। संकट और आपदा से घिरे लोगों की सेवा में जाति, धर्म, संप्रदाय का बंधन कदापि नहीं रहना चाहिए।

पश्चाताप जनित विनम्रता का सिद्धांत

विश्व हिन्दू परिषद का कर्नाटक प्रान्त सम्मेलन सम्पन्न हुआ। यह आयोजकों एवं कार्यकर्ताओं की अपेक्षा से परे कई गुना भव्य कार्यक्रम था। स्वाभाविक रूप से इसकी सफलता ने सभी के मस्तिष्क में बड़ी आशा का संचार किया है। परन्तु मुझे लगता है कि इस बात का समर्थन करना तर्कसंगत नहीं होगा कि सभी व्यवस्थायें तुरन्त किसी चमत्कारिक विधि से सुधर जायेंगी। इसके लिये लगातार कठिन परिश्रम आवश्यक है। वस्तुतः इस सम्मेलन को हिन्दू एकता और हिन्दुओं के सर्वांगीण विकास के लिये प्रयासों में एकजुटता का आह्वान् माना जा सकता है। परन्तु सम्मेलन की सफलता मात्र से हमें संतुष्ट नहीं होना चाहिए।

उदाहरण के लिए हमारे आचार्यों, धर्माचार्यों, मठाधिपतियों और अन्य सभी सम्प्रदायों के पूज्य प्रमुखों के समर्थन एवं आशीर्वाद से पारित किये गये अस्पृश्यता पर प्रस्ताव एवं उसके प्रति पवित्र भावना मात्र से उसे वास्तविक जीवन में नहीं लागू किया जा सकता। शताब्दियों पुराने दुराग्रह केवल सद्विचारों एवं भावना से नहीं मिटते। कठोर परिश्रम व उचित प्रचार–व्यवस्था द्वारा इसे नगर–नगर, गाँव–गाँव, घर–घर तक ले जाकर लोगों को इन प्रस्तावों को स्वीकार करने व जीवन में उतारने का प्रशिक्षण देना होगा। वह भी केवल आधुनिक युग के दबाव में दी गयी छूट के रूप में नहीं, बल्कि अतीत में हुयी भूलों के लिये पश्चाताप–जनित विनम्रता के आवश्यक सिद्धान्त तथा जीवन–शैली के रूप में इसे अपनाना होगा। इसके लिये हृदय–परिवर्तन एवं

दृष्टिकोण में नैतिक एवं भावनात्मक परिवर्तन करना ही पड़ेगा। समाज में जो लोग पीछे छोड़ दिये गये हैं, पार्श्व में सीमान्त पर स्थित हैं, उनके आर्थिक एवं राजनीतिक संवृद्धि के लिये काम करना और उनको अन्य लोगों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने योग्य बनाना एक भागीरथ प्रयत्न है। परन्तु यह प्रयास स्वयं में पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार की एकता पृथकता की भावना को समाप्त किये बिना भी आ सकती है। परन्तु जो हम चाहते हैं और जिसके लिये हम प्रयास कर रहे हैं वह केवल आर्थिक और राजनीतिक एकता नहीं है— हम एक वास्तविक परिवर्तन चाहते हैं, पूर्ण एकात्मता की स्थापना चाहते हैं। यह परिवर्तन राजनीतिक शक्तियों एवं सरकारी योजनाओं के वश की बात नहीं है। राजनीतिक दलों द्वारा चतुराईपूर्वक एकता के नाम पर जोड़—तोड़ करने से भी ऐसी स्थिति प्राप्त करना असम्भव है। आर्थिक, नैतिक, सामाजिक स्तर पर इस दिशा में पूर्ण मनोयोग से प्रवृत्त होंने तथा अपने विचारों को व्यवहार में परिलक्षित करने के लिये सम्मेलन के सभी प्रतिभागियों का आह्वान् किया गया है। इसी के साथ वे सब लोग भी जो इस विषय में सहानुभूति रखते हैं और सहायता करना चाहते हैं उन्हें भी आगे आकर इस कार्य में सहयोग देना चाहिये और एक ही सशक्त प्रहार के साथ युगों से चले आ रहे घातक पूर्वाग्रहों को छिन्न—भिन्न कर देना चाहिये।

दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है हमारे समाज को सामान्य एवं विशेष दोनों रूपों में धर्म के सिद्धान्त एवं व्यवहार की शिक्षा देना। इसमें सर्वसाधरण एवं सर्वसमावेशक धर्म के तत्त्व एवं जिस पंथ में व्यक्ति ने जन्म लिया है अथवा बाद में जिसे स्वीकार किया है उस के तत्त्व सम्मिलित हैं। इस शिक्षा का प्रारम्भ हमें स्वयं से करना है क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो दूसरों को शिक्षित करना चाहता है वह स्वयं को सर्वप्रथम शिक्षित किये बिना और बिना यह जाने की उसने क्या सीखा है और क्या दूसरों को सिखाना चाहता है, शिक्षा का यह कार्य प्रभावशाली ढंग से नहीं कर सकता। पूर्ण विश्वास एवं पूर्ण समर्पण, विशुद्ध चरित्र, विशुद्ध वचन, विशुद्ध भावना और कर्म की शुद्धता स्वयं व्यक्ति को इस बात का अधिकार देती है कि वह दूसरों को शिक्षित कर सके। इसलिये हमें परिश्रमपूर्वक इन महान गुणों को विकसित करना है।

हमें इस शिक्षा को हमारे देश के दूरस्थ कोनों तक, उनके पास तक ले जाना है जिनके लिए धर्म क्षीण होकर मात्र अन्धविश्वासी अनुष्ठानों तक सीमित हो गया है। हमें शिक्षा को सभी गाँवों में, पर्वतों और घने जंगलों में उन तक ले जाना है जिनको कभी धर्मतत्त्व सीखने और धर्माचरण का अवसर ही नहीं मिला। इस कार्य में हमें अथक परिश्रम करना होगा एवं अपरिमित कष्ट और संकट झेलना पड़ेगा। सम्भवतः इस कार्य के लिये हमें कोई धन्यवाद भी न दे। परन्तु शीघ्र परिणाम और चमत्कार की अपेक्षा किये बिना,

हमें सफलता के लिये कठिन परिस्थितियों का अनन्त सहनशक्ति के साथ सामना करना है– एक कर्मयोगी जैसी निष्ठा के साथ।

कई कार्यकर्ताओं को इस अव्यवस्था एवं असमानता के लिये दूसरों को दोषी ठहराने में आनन्द आता है। कुछ राजनीतिक विकृतियों पर दोषारोपण करते हैं। कुछ लोग इस बात के लिये ईसाईयों, मुसलमानों तथा अन्य आक्रामक पंथों की आलोचना करते रहते हैं। हमारे कार्यकर्ताओं को ऐसी प्रवृत्तियों से अपने मस्तिष्क को मुक्त रखना है और सकारात्मक ऊर्जा के साथ हमारी जनता और धर्म के लिये काम करना है। उन सभी बन्धुओं की सहायता करनी है, जिन्हें सहायता की आवश्यकता है और जब भी हम देखें कि वे दुःखी हैं तो उनका दुःख दूर करने का प्रयास करना है। इस सेवा में विभिन्न मनुष्यों के मध्य कोई भेद नहीं करना चाहिये। हमें सबकी सेवा करना है, चाहे वह ईसाई हो, मुसलमान हो अन्यथा किसी अन्य पंथ का अनुयायी हो। आपदा, दुःख और दुर्भाग्य सभी को समान रूप से प्रभावित करते हैं, वहाँ कोई भेद नहीं है। कष्ट से मुक्ति हेतु मानव–सेवा में कृपा और सान्त्वना की भावना नहीं होनी चाहिये, अपितु इसमें समर्पण का यह भाव होना चाहिये कि ईश्वर सभी के हृदय में विराजते हैं। अपने वास्तविक धार्मिक भाव के साथ अपना सर्वस्व उसकी विनम्र सेवा में समर्पित करना है जो हमारे लिये माता, पिता, भाई, बन्धु, सखा और सर्वस्व है। हमारे ये कार्य शाश्वत सनातन–धर्म की कीर्ति और वैभव समस्त विश्व में फैलाने में सफल हों।

4 अस्पृश्यता: असभ्यता और उत्पीड़न का प्रतीक

(11 दिसंबर, 1915 — 17 जून, 1996)

बालासाहब देवरस

मधुकर दत्तात्रेय देवरस उपाख्य बालासाहब देवरस राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तृतीय सरसंघचालक (1973–1994) थे। संघ में उनका प्रवेश 1926 में हुआ और लगभग छह दशकों के सार्वजनिक जीवन में वे देश के सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक जीवन को अनवरत प्रभावित करते रहे। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान वे क्रांतिकारी मार्ग अपनाकर साम्राज्यवादी सरकार को परास्त करने के लिए पहल के पक्षधर थे। देवरस ने पंडित जवाहरलाल नेहरू एवं इंदिरा गांधी दोनों के दुष्प्रचार पर आधारित दमनकारी दौर का दृढ़ता से सामना किया था। 1973 में जब वे संघ के सरसंघचालक बने तब देश में राजनीतिक एवं आर्थिक मोर्चे पर उथल–पुथल मची हुई थी। इंदिरा गांधी की सरकार लोकतांत्रिक मूल्यों एवं संस्थाओं का अवमूल्यन कर रही थी। महंगाई, भ्रष्टाचार व कुशासन के विरुद्ध छात्रों–नौजवानों में भारी असंतोष एवं हलचल व्याप्त थी। उस समय संघ ने लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में व्यवस्था विरोधी जन आंदोलन में पूरी ताकत के साथ शिरकत की थी। जब आपातकाल (25 जून 1975) घोषित किया गया तब श्री देवरस गिरफ्तार कर लिए गए और वे उन्नीस महीने जेल में रहे। बदलते राजनीतिक घटनाक्रमों ने देवरस की सामाजिक दृष्टि को गौण या ओझल नहीं होने दिया। वे सामाजिक बदलाव को जन भागीदारी, जनचेतना और जनाकांक्षा से जोड़ना चाहते थे। वे अस्पृश्यता को सामाजिक जीवन पर किस हद तक कलंक मानते थे यह उनके इस कथन से पता चलता है– "यदि अस्पृश्यता गलत नहीं है तो इस संसार में कुछ भी गलत नहीं है।" पूना की 'वसन्त व्याख्यानमाला'[2] में दिया गया उनका भाषण उनके सामाजिक दर्शन और सांस्कृतिक सरोकार को प्रतिबिम्बित करता है।

[2]140 वर्षों से चल रही पूना के वसंत व्याख्यानमाला की शुरुआत महादेव गोविन्द रानाडे ने 1875 में की थी। यह व्याख्यानमाला प्रत्येक वर्ष 21 अप्रैल से 20 मई के मध्य तिलक स्मारक मंदिर, पुणे में आयोजित होती है।

सारांश

देश में विदेशी आक्रांताओं की सफलता का एक कारण यहां व्याप्त सामाजिक विषमता रही है जो इस समाज के लिए विघटनकारी सिद्ध हुई है। हमें अपने स्वर्णिम विरासत को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। यह विरासत संवेदनशीलता और समानता से ओत–प्रोत है। समाज को सदैव विकासोन्मुख होना चाहिए। ठहराव यथास्थितिवाद की जननी है। सामाजिक संरचनाओं, व्यवस्थाओं एवं परंपराओं का काल और संदर्भ होता है। जो कल ठीक था वह आज भी ठीक हो यह आवश्यक नहीं है। जिन सामाजिक व्यवस्थाओं की उपयोगिता समाप्त हो गई है ऐसी कालबाह्य व्यवस्थाओं का सहज रूप से परित्याग कर देना चाहिए। हमें हर प्रकार की विषमता दूर करनी चाहिए और विषमता शास्त्र पर आधारित हर प्रकार की व्यवस्था को समाप्त करना चाहिए। अस्पृश्यता अपने समाज का दुःखद और दुर्भाग्यपूर्ण पहलू है। यदि यह गलत नहीं है तो संसार में कुछ भी गलत नहीं है। इसके उन्मूलन के लिए सार्थक, साहसपूर्ण प्रयास होना चाहिए।

अस्पृश्यता: असभ्यता और उत्पीड़न का प्रतीक

आपने मुझे वसंत व्याख्यानमाला के इस वर्ष के भाषण–सत्र में आमंत्रित कर जो गौरव प्रदान किया है तथा यहां अपने विचार व्यक्त करने का सुअवसर दिया है, उसके लिये मैं आपका आभारी हूं।

आयोजकों ने मुझे कुछ विषय सुझाये थे, उनमें से मैंने 'सामाजिक समता और हिन्दू–संगठन' विषय चुना। क्योंकि राष्ट्र के भविष्य तथा विशेष रूप से हिन्दू–संगठन की दृष्टि से यह विषय अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्र के कल्याणार्थ हिंदु–संगठन आवश्यक है। अतः उससे संबंधित सभी प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु इनमें भी सामाजिक समता का विषय संवेदनशील और सामयिक होने के कारण मुझे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ।

हिन्दू शब्द की अनेक व्याख्यायें हैं, किन्तु कोई भी परिपूर्ण नहीं है क्योंकि प्रत्येक में अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोष है। किन्तु कोई सर्वमान्य व्याख्या नहीं है, केवल इसीलिये क्या हिन्दू समाज के अस्तित्व से इन्कार किया जा सकेगा? मेरी यह मान्यता है कि हिन्दू समाज है और उसके अन्तर्गत कौन–कौन आते हैं, इस सम्बन्ध में भी सभी बन्धुओं की एक निश्चित व सामान्य धारणा है, जो अनेक बार अनेक प्रकार से प्रकट होती है। कुछ वर्ष पूर्व सरकार ने 'हिन्दू कोड' बनाया। उसे बनाने में पं. नेहरू तथा डॉ. अम्बेडकर आदि अगुवा थे। यहां के बहुसंख्यक समुदाय के लिये यह कोड लागू करने

के विचार से अन्ततोगत्वा उन्हें इस कोड को 'हिन्दू कोड' ही कहना पड़ा तथा वह किन लोगों पर लागू होगा, यह बताते समय उन्हें यही कहना पड़ा कि मुसलमान, ईसाई, पारसी तथा यहूदी लोगों को छोड़कर अन्य सभी पर अर्थात् सनातनी, आर्यसमाजी, जैन, सिक्ख, बौद्ध—सभी पर यह लागू होगा। आगे चलकर तो यहां तक कहा गया है कि इनके अतिरिक्त और जो भी लोग होंगे, उन पर भी यह कोड लागू होगा। 'हम पर यह लागू नहीं होता' यह सिद्ध करने का दायित्व भी उन्हीं पर होगा। ऐसा इसलिए करना पड़ा क्योंकि ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से इन सभी बन्धुओं के लिये सर्वसमावेशक शब्द हिन्दू ही है।

हम सभी हिन्दुओं को संगठित करना चाहते हैं। संगठन अर्थात् मोर्चा अथवा सभा नहीं। वहां भी लोग एकत्रित होते हैं और संगठन में भी एकत्र होते हैं। अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि संगठन में उन्हें संगठित करना पड़ता है। संगठित होने पर वे एकत्र, साथ—साथ कैसे रहेंगे, उन्हें एक—साथ क्यों रहना चाहिये, इस पर भी विचार करना पड़ता है। इस एकता का आधार क्या हो सकता है ?

यह अपनी मातृभूमि है, हम इसके पुत्र हैं, और हजारों वर्षों से हम यहां एक साथ रहते आये हैं। अपने दैनंदिन व्यवहार में जब तक हम सभी को अपनी इस एकता की अनुभूति नहीं होती, तब तक एकता की नींव सुदृढ़ और चिरस्थायी नहीं हो सकती।

विगत अनेक शताब्दियों के इतिहास में मुट्ठीभर मुसलमानों तथा अंग्रेजों ने इस देश पर राज किया, हमारे अनेक बंधुओं का धर्मांतरण किया तथा हम लोगों के बीच ब्राह्मण—गैर ब्राह्मण, सवर्ण—अस्पृश्य आदि भेद पैदा किये। इस सम्बन्ध में केवल उन लोगों को दोष देकर हम अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते। परकीयों से सम्बन्ध होने, उनके द्वारा बुद्धि—भेद किये जाने से ही यह सब हुआ, ऐसा कहने मात्र से क्या होगा? दूसरे समाज और संस्कृति के साथ आज नहीं तो कल सम्बन्ध तो होने ही वाला था। बर्लिन में जिस भांति दीवार खड़ी की गयी, वैसा करना तो संभव ही नहीं था। दीवार तो वे खड़ी करते हैं, जिन्हें दूसरों के दर्शन और विचारों से भय लगता है। दोनों पद्धतियों के एक साथ चलने में ही उनकी श्रेष्ठता स्थापित होती है। जो पद्धति भय के कारण अपने चारों ओर दीवार खड़ी करती है, वह तो स्वयं ही अपनी हीनता स्वीकार कर लेती है। अतः अन्य लोगों पर दोषारोपण करने की अपेक्षा अन्तर्मुख होकर हमारे किन दोषों का उन्होंने लाभ उठाया, इस पर भी हमें विचार करना होगा। इसके लिये सामाजिक विषमता भी कारणीभूत रही है, यह भी हमें स्वीकार करना होगा। वर्ण—भेद, जाति भेद, अस्पृश्यता ये सभी सामाजिक विषमता के ही आविष्कार हैं। आज भी समाज में विचरण करते समय इन प्रश्नों की ठोकर हमें लगती है, यह हम सभी का अनुभव है।

हम समझते हैं कि हिन्दू को यदि सच्चे अर्थ में हिन्दू के रूप में जीवित रहना है, तो उसे अपनी संस्कृति के शाश्वत–जीवन मूल्यों को, जो प्रदीर्घ काल के आघातों और ऐतिहासिक तथा राजनीतिक उथल–पुथल के बावजूद टिके रहे, बने रहे, उनकी विरासत को नहीं छोड़ना चाहिये।

'पुराणमित्येव न साधु सर्वम् (पुराना होने से ही सब कुछ अच्छा नहीं है) अतः पुराना है इसीलिये अच्छा है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। यह भी सोचने का उचित तरीका नहीं कि पुरानी बातों से अब तक हमारा गुजारा होता रहा, अतः आज फिर नये ढंग से सोचने की क्या आवश्यकता है? 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति' अर्थात् यह कुआं मेरे पिताजी का है, उसका जल खारा हुआ तो क्या हुआ? उन्होंने इसका जल पिया है, उनका कुछ नहीं बिगड़ा। अतः हम भी उसी जल को पियेंगे। इस प्रकार का दुराग्रह रखना ठीक नहीं होगा। समाज में अनेक प्रकार के लोग रहते हैं। जहां एक वर्ग किसी भी नयी बात को स्वीकार करने को तैयार रहता है वहीं अन्य प्रकार के लोगों में पुरानी बातों से चिपके रहने की प्रवृत्ति होती है। 'परीक्षान्यतरत् भजन्ते' (परीक्षा करके ही कार्य करना चाहिए) – यह विचार करके अर्थात् कसौटी पर कस कर, सदसद्विवेक बुद्धि से किसी वस्तु का त्याग अथवा स्वीकार करना ही अधिक उचित होगा। हमें ऐसा प्रयास करना चाहिए कि अधिकाधिक लोग इसी पद्धति के अनुसार विचार और आचरण के लिए प्रवृत्त हों।

मुझे यह जानकारी मिली है कि यहूदी लोगों ने विशिष्ट कालखण्डों के बाद बार–बार अपने धर्मग्रन्थों और धार्मिक आचारों की जांच की है एवं उनका पुनर्मूल्यांकन किया है। धर्मग्रंथ के शब्दों को बदलना तो संभव नहीं था। किन्तु उन्होंने नयी व्याख्यायें तैयार कीं। प्राचीन काल में अपने देश में भी इसी प्रकार का धर्मचिंतन, धर्ममंथन किया ही गया होगा। उन्होंने इस बात पर भी विचार किया होगा कि अपने धर्म की कौन सी शाश्वत बातें हैं और कौन सी परिवर्तनीय? अन्यथा इतनी स्मृतियां तैयार नहीं हो पातीं। अपने देवताओं में परिवर्तन हुआ है। ऋग्वेद के इन्द्र, वरुण, अग्नि प्रभृति देवताओं के स्थान पर आज विष्णु और शिव की उपासना चल रही है। शैव और वैष्णवों के बीच शत्रुता का व्यवहार था, किन्तु आदि शंकराचार्य जी ने इनमें समन्वय स्थापित कर पंचायतन पूजा प्रचलित की। अब तो घर–घर में शिवरात्रि के साथ ही शयनी व प्रबोधिनी एकादशी का व्रत रखा जाता है।

प्राचीन ग्रन्थों में, पुराणों में जो कथायें बतायी गयी हैं, उन्हें हम ज्यों–की–त्यों सही मानने के लिये तैयार नहीं। अपने पुराणों में चन्द्र–ग्रहण की कथा है। राहु चन्द्रमा को निगलता है, इसीलिये चन्द्र को ग्रहण लगता है। अतः विद्यालयों में बच्चों को

चन्द्र–ग्रहण क्यों लगता है यह पढ़ाते समय, क्या इस कथा को भी पुस्तक में सम्मिलित किया जायेगा? ऐसा नहीं है कि रुढ़िवादिता अथवा धर्मग्रंथ के हर शब्द पर अक्षरशः विश्वास और आस्था रखने की प्रवृत्ति केवल अपने ही देश में है। सन् 1925 में अमेरिका में एक बड़ा रोचक मुकदमा चला (रीडर्स डाइजेस्ट, जुलाई 1962)। वहां एक राज्य में किसी शिक्षक पर मुकदमा चलाया गया। उस पर आरोप लगाया गया कि बाइबिल में सृष्टि और मनुष्य की उत्पत्ति की जो कहानी है, उसके विरुद्ध वह 'इवोल्यूशन' की 'थ्योरी' पढ़ाता है। उसे दण्ड भी दिया गया। किन्तु आज तो सभी ईसाई बाइबिल में वर्णित सृष्टि व मनुष्य की उत्पत्ति की कहानी को अस्वीकार करते हैं। फिर भी बाइबिल को वे अस्वीकार नहीं करते। यह बात ध्यान में रखने योग्य है।

ऐसा कुछ लोग मानते हैं कि अनेक बातें ईश्वर ने बनायीं हैं। यही समझाने का उनका उद्देश्य रहता है कि वे बातें अपरिवर्तनीय हैं। किन्तु ईश्वर ने ही स्वयं कहा है कि 'धर्म–संस्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे' (धर्म की स्थापना हेतु हर युग में जन्म लूंगा)। धर्मग्लानि के बाद धर्म–संस्थापना का यह अर्थ तो नहीं कि पुरानी बातों को ही फिर से लाया जायेगा, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। अंतिम पैगम्बर की भांति, 'मैं अंतिम अवतार हूं,' यह तो किसी ने नहीं कहा। प्राण–तत्त्व तो पुराने ही रहेंगे, क्योंकि वे शाश्वत एवं सनातन हैं। किन्तु उनके आविष्कार और अभिव्यक्ति में परिवर्तन होगा। इस परिवर्तन का हमें स्वागत करना चाहिये।

मुझे ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में जो व्यवस्थायें बनीं थीं वे उस उस काल की आवश्यकता के अनुरूप तैयार की गयी थीं। आज यदि उनकी आवश्यकता न हो एवं उनकी उपयोगिता समाप्त हो गयी हो तो हमें उनका त्याग करना चाहिये। अपनी वर्ण–व्यवस्था पर ही विचार करें तो हमारे ध्यान में आयेगा कि समाज में चार प्रकार का कार्य समाज–धारणा के लिये अच्छे ढंग से होना आवश्यक है, ऐसा मानकर, तथा समाज के विविध व्यक्तियों तथा व्यक्तिसमूहों की स्वाभाविक क्षमता और प्रवृत्ति को देखते हुए ही इस प्रकार की व्यवस्था निर्मित हुई थी। व्यवस्था में वर्गीकरण का होना अपरिहार्य है। किन्तु उस व्यवस्था में भेदों की कल्पना कदापि नहीं थी। कुछ विद्वानों के मतानुसार प्रारंभ में यह व्यवस्था जन्मानुसार नहीं थी, किन्तु आगे चलकर इस विशाल देश में तथा जनसमूह में गुणों को कैसे पहचाना जाये, यह प्रश्न विचारशील लोगों के मन में उठा होगा और सम्भवतः किसी भी विशिष्ट परीक्षा–पद्धति के अभाव में उन्होंने जन्म से ही वर्ण का बोध स्वीकार किया होगा। ऐसा मैं समझता हूं कि उसमें ऊंच–नीच का भाव नहीं रहा होगा बल्कि उसके पीछे सहस्त्रशीर्ष, सहस्त्राक्ष, सहस्त्रपाद जैसे विराट् समाज के ये सभी महत्त्वपूर्ण अवयव हैं, यही भव्योदात्त कल्पना रही होगी। अतः यह स्पष्ट है कि इसमें पैरों से जंघायें श्रेष्ठ और जंघाओं से हाथ अथवा हाथों से सिर

श्रेष्ठ है, इस प्रकार की विपरीत अथवा हास्यास्पद भावना कदापि नहीं थी। इसी कारण एक जमाने में यह व्यवस्था सर्वमान्य थी और कुछ काल तक सुचारु रूप से चली थी। इसके लिये कतिपय निगरानी तन्त्र की भी व्यवस्था थी। ज्ञान–शक्ति को पृथक् किया गया और उसे सम्मान तो दिया, पर साथ में दारिद्र्य भी दिया। दंड शक्ति को पृथक् किया और उसे धन–शक्ति से दूर रखा। धन–शक्ति को दंड–शक्ति से नहीं मिलने दिया। इस प्रकार जब तक यह निगरानी तन्त्र ठीक तरह से काम करता रहा तब तक यह व्यवस्था भी सुचारु रूप से चलती रही, किन्तु बाद में इस ओर ठीक से ध्यान न देने तथा अन्य कारणों से यह व्यवस्था टूट गयी।

जन्म से अर्थात् आनुवंशिकता से गुण–संपदा आती है, इस प्रकार का विचार पूर्वजों ने किया, किन्तु उस काल में भी उन्होंने जन्मतः आने वाले गुणों की मर्यादा को समझा था। इसीलिये, 'शूद्रोऽपि शील–सम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणों भवेत। ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत' (शील सम्पन्न होने पर शूद्र भी गुणवान् ब्राह्मण हो जाता है, ब्राह्मण भी अपने कर्म से रहित होने पर शूद्र से भी निम्न हो जाता है।) ऐसा कहा अथवा 'जातिर्ब्राह्मण इति चेत् न'–जन्म से ब्राह्मण होता है, यह कहना उचित नहीं यह बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि ऋष्यशृंग, वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्ति आदि अन्य जातियों में जन्में लोग भी धर्माचरण के कारण ब्राह्मण ही हुए। पुराणों में ऐसी कथा है कि शूद्र स्त्री का पुत्र महीदास अपने गुणों के कारण द्विज बना तथा उसने 'ऐतरेय' ब्राह्मणों की रचना की। उपनिषद् की यह कथा प्रसिद्ध है कि जिसके पिता का पता नहीं, ऐसे जाबाल का उपनयन संस्कार कर, उसके गुरु ने उसे द्विज बनाया। प्राचीन पद्धति में आवश्यक लचीलापन होने के कारण ही यह संभव हुआ होगा।

किन्तु आज तो अनेक कारणों से परिस्थिति पूर्णतया बदल गयी है। इस कारण नये युग, नये काल के अनुरूप विचार करना ही उचित होगा। छपाई–कला के कारण पुस्तकों द्वारा शिक्षा संस्थाओं में ज्ञानार्जन शुरू हुआ, यंत्र–युग के कारण घर–घर में होनेवाले काम कारखानों में होने लगे। नये आविष्कार हुए। नया विज्ञान आया। इस कारण आनुवंशिकता के साथ ही आसपास का वातावरण और अन्य बातों का महत्त्व बढ़ गया।

यह सही है कि प्रकृति के कारण अर्थात् आनुवंशिकता के कारण कुछ विषमता उत्पन्न होती है किन्तु उस विषमता का शास्त्र बनाना उचित नहीं। यदि मनुष्य के प्रयास प्रकृति द्वारा निर्मित विषमता को स्थायी बनाने में लगे रहे तो इस बात में उसका कोई बड़प्पन या महानता नहीं होगी। इसीलिये मनुष्य को यही विचार करना चाहिये कि प्रकृति के नियमों का अध्ययन कर यह प्राकृतिक विषमता कैसे दूर की जा सकती है एवं उसे

किस प्रकार सामंजस्यपूर्ण बनाया जा सकेगा? विषमता का दर्शन तैयार करना उचित नहीं होगा। दुर्बल अथवा निर्धन परिवार में जन्में बालक को भी सभी प्रकार की सुविधायें उपलब्ध कराने का प्रयास विश्व के सभी समझदार समाजों में होता है। यदि किसी जाति विशेष में जन्म लेने के कारण कुछ विकलांगता अथवा न्यूनतायें उत्पन्न होती हों तो वह व्यवस्था चल नहीं पायेगी। उन न्यूनताओं को आनुवंशिक या नैसर्गिक कहकर उनका समर्थन करना भी आज के युग में भूल होगी। विशिष्ट प्रकार की शिक्षा–प्रशिक्षा द्वारा तथा अन्य व्यवस्था से पीढ़ियों से चले आ रहे गुण बदले जा सकते हैं।

वास्तव में देखा जाये तो आज की सम्पूर्ण परिस्थिति इतनी बदल चुकी है कि समाजधारणा के लिये आवश्यक इस प्रकार की जन्मतः वर्ण–व्यवस्था अथवा जाति–व्यवस्था आज अस्तित्व में ही नहीं है। सर्वत्र अव्यवस्था है, विकृति है। अब यह व्यवस्था केवल विवाह सम्बन्धों तक ही सीमित रह गयी है। इस व्यवस्था मूल तत्त्व समाप्त हो गया है, केवल शब्द ही शेष है। भाव समाप्त हो गया, ढांचा रह गया है। प्राण निकल गया, पंजर बचा है। समाजधारणा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः सभी को मिलकर सोचना चाहिये कि जिसका समाप्त होना उचित है, जो स्वयं ही समाप्त हो रही है, वह ठीक ढंग से कैसे समाप्त हो।

अपने यहाँ रोटी–बेटी–व्यवहार शब्द प्रचलित है। पहले रोटी–व्यवहार भी जाति तक ही सीमित था। किन्तु अब वे बन्धन टूट चुके हैं और रोटी–व्यवहार सभी जातियों में शुरू हो गया है। इसके कारण जाति–भेद की तीक्ष्णता कम होने मे काफी सहायता मिली है। अब विभिन्न जातियों के बीच बेटी–व्यवहार भी प्रारम्भ हो गया है। यह बड़े स्तर पर हुआ तो जाति–भेद समाप्त करने तथा सामाजिक समरसता की स्थापना में अधिक सहायक होगा, यह स्पष्ट ही है। अतः रोटी–बेटी व्यवहार के बंधनों का टूटना स्वागतार्ह है। किन्तु बेटी–व्यवहार, रोटी–व्यवहार जैसा आसान नहीं है। यह बात सभी को ध्यान में रखकर, संयम न खोते हुए, इसके अनुकूल आचरण करना चाहिये। विवाह कहते ही आदर्श जोड़ी का विचार होना स्वाभाविक ही है। अतः ऐसे विवाह शैक्षणिक, आर्थिक और जीवन–स्तर की समानता के आधार पर ही होंगे। जितनी मात्रा में लोगों का निवास एक साथ होगा, एक स्थान पर होकर साथ–साथ रहने की प्रवृत्ति बढ़ेगी एवं समान शिक्षा सुविधा के साथ लोगों का जाति–निरपेक्ष आर्थिक–स्तर ऊंचा उठेगा, उतनी ही मात्रा में यह स्वाभाविक रूप से संभव हो सकेगा। कानून बनाकर अथवा धन का लोभ दिखाकर यह संभव नहीं और न ही यह कोई जल्दबाजी का विषय है। यह बात सभी को ध्यान में रखना चाहिये। सभी लोगों को, सामाजिक–परिवर्तन के इस प्रयास में अपना–अपना योगदान देना होगा।

अस्पृश्यता अपने समाज की विषमता का एक अत्यंत दुःखद और दुर्भाग्यजनक पहलू

है। विचारशील लोगों का मत है कि अति प्राचीन काल में इसका अस्तित्व नहीं था तथा काल के प्रवाह में यह किसी अनाहूत की भाँति समाविष्ट होकर रूढ़ बन गयी। वास्तविकता कुछ भी हो, किन्तु हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि अस्पृश्यता एक भयंकर भूल है और उसका पूर्णतया उन्मूलन आवश्यक है, इस सम्बन्ध में अब कहीं भी दो मत नहीं है। अब्राहम लिंकन ने दास–प्रथा के सम्बन्ध मे कहा था, "यदि दासता गलत नहीं है तो कुछ भी गलत नहीं है।" ठीक उसी तरह यह अब हम सबके ऊपर है कि हम यह घोषित करें कि "अगर अस्पृश्यता गलत नहीं है तो दुनिया में कुछ भी गलत नहीं है।"

अतः हम सभी के मन में सामाजिक विषमता के उन्मूलन का ध्येय अवश्य होना चाहिये। हमें लोगों के सामने यह बात स्पष्ट रूप से रखनी चाहिये कि विषमता के कारण हमारे समाज में किस प्रकार दुर्बलता आयी और उसका विघटन हुआ। उसे दूर करने के उपाय बताने चाहिये तथा इस प्रयास में प्रत्येक व्यक्ति को अपना योगदान देना चाहिये।

हमारे धर्मगुरुओं, संतों, महात्माओं और विद्वानों का जनमानस पर गहरा प्रभाव है। इस कार्य में उनका सहयोग भी आवश्यक है। पुरानी बातों पर उनकी श्रद्धा रहे और वे बनी रहें, इतना आग्रह ठीक है किन्तु हमारा उनसे यही अनुरोध है कि वे लोगों को अपने प्रवचनों–उपदेशों द्वारा यह भी बतायें कि अपने धर्म के शाश्वत मूल्य कौन से हैं तथा कालानुरूप परिवर्तनीय बातें कौन–कौन सी हैं? ऐसा होने पर उनके प्रतिपादन का अधिक व्यापक और गहरा प्रभाव होगा। शाश्वत और परिवर्तनीय विषयों का विवेक रखनेवाले सभी आचार्यों, महंतों और संतों की आवाज देश के कोने–कोने में फैलनी चाहिये। समाज की रक्षा का दायित्व हमारा है और वह मठों से बाहर निकलकर समाज–जीवन में घुल–मिलकर रहने से ही पूर्ण होगा, यह बात उन्हें समझनी चाहिये तथा तदनुरूप कार्य करने हेतु उन्हें आगे आना चाहिये। सौभाग्य से इस दिशा में उनके प्रयास प्रारंभ होने के शुभ संकेत भी मिलने लगे हैं। हमारे दिवंगत सरसंघचालक श्रीगुरुजी ने ऐसे सभी संत–महात्माओं को एक साथ लाकर, उन्हें इस दृष्टि से विचार करने हेतु प्रवृत्त किया था। इसी का यह सुफल है कि अनेक धर्मपुरुष, साधु–संत समाज के विभिन्न घटकों में घुलने–मिलने लगे और धर्मांतरित बंधुओं को स्वधर्म में सम्मिलित करने हेतु तैयार हुए।

हिन्दू–समाज के किसी भी वर्ग को, अन्याय व अत्याचार का पुतला कहकर कोसते रहना, अपमानित करना, आत्महत और तेजोहत करना कदापि उचित नहीं है। उनका आत्मबल बनाये रखकर नये प्रकार के अच्छे सामाजिक व्यवहार के उदाहरण और आदर्श उनके सामने रखा जाना आवश्यक है। आखिर वे सभी हिन्दू–समाज के ही अंग

हैं। अतः उनका स्वाभिमान भी बना रहे, इसका ध्यान रखना होगा। जाति–व्यवस्था तथा अस्पृश्यता का उन्मूलन करना है तो जो लोग उसे मानते हैं, उनमें भी परिवर्तन लाना होगा। जो उसे मानते हैं, ऐसे लोगों पर टूट पड़ने अथवा उनसे संघर्ष करने के बजाय कार्य करने का दूसरा मार्ग भी हो सकता है। संघ के संस्थापक आद्य सरसंघचालक डॉ. हेडगेवार[3] के साथ काम करने का सौभाग्य मुझे मिला है। वे कहा करते थे कि– हमें न तो अस्पृश्यता माननी है, न उसका पालन करना है। संघ शाखाओं और कार्यक्रमों की रचना भी उन्होंने इसी आधार पर की। उन दिनों भी कुछ भिन्न ढंग से सोचने वाले लोग थे। किन्तु डॉक्टर जी को विश्वास था कि आज नहीं तो कल वे अपने विचारों से सहमत होंगे ही। अतः उन्होंने न तो इसका ढोल पीटा और न किसी से झगड़ा किया या किसी के विरुद्ध अनुशासन भंग की कार्यवाही ही की, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि दूसरा व्यक्ति भी सत्प्रवृत्त है। कुछ आदतों के कारण भले ही वह संकोच करता हो किन्तु यदि उसे समय दिया गया तो वह भी अपनी भूल निश्चित ही सुधार लेगा। प्रारंभिक दिनों में एक संघ–शिविर में कुछ बन्धुओं ने महार बंधुओं के साथ भोजन करने में संकोच व्यक्त किया। डॉक्टर जी ने उन्हें नियम बताकर शिविर से निकाला नहीं। सभी अन्य स्वयंसेवक, डॉक्टर जी और मैं एक साथ भोजन के लिये बैठे, जिन्हें संकोच था वे अलग बैठे। किन्तु उसके बाद दूसरे भोजन के समय वे ही बन्धु स्वयं आकर हम सभी के साथ बैठे। इससे भी अधिक उद्‌बोधक उदाहरण मेरे मित्र स्व. पं. बच्छराज व्यास[4] का है। जिस शाखा का मैं प्रमुख था, उसी शाखा के वे स्वयंसेवक थे। उनके घर का वातावरण पुराना, कट्टरपंथी होने के कारण, वे उन दिनों मेरे यहां भी भोजन के लिये नहीं आते थे। जब वे पहली बार संघ–शिविर में आये, तब उनके भोजन की समस्या खड़ी हो गई। सब लोगों के लिए एक–साथ तैयार किया गया तथा परोसा गया भोजन उनको नहीं दिया जा सकता था। मैंने डॉक्टर जी से पूछा तो उन्होंने कोई नियम बताकर उन्हें शिविर में आने से नहीं रोका। उन्हें बच्छराजजी के संबंध में विश्वास था कि उनमें उचित परिवर्तन अवश्य होगा। अतः उन्होंने मुझसे कहा कि बच्छराजजी को शिविर में आने दो। हम उन्हें अलग रसोई पकाने की छूट देंगे। प्रथम वर्ष तो यही हुआ किन्तु दूसरे वर्ष स्वयं बच्छराजजी ने कहा कि मैं भी सब लोगों के साथ भोजन करूंगा। बाद में वे जैसे–जैसे संघकार्य में रमते गये वैसे–वैसे उनके व्यवहार में किस प्रकार परिवर्तन हुआ, यह सर्वविदित है।

दलित अथवा अस्पृश्य माने गये बंधुओं ने बहुत अत्याचार व कष्ट सहन किये हैं किन्तु

[3] डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार (1889–1940) : उन्होंने 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की। आगे उनके लिए 'डॉक्टर जी' का प्रयोग हुआ है।

[4] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता और भारतीय जनसंघ के बारहवें राष्ट्रीय अध्यक्ष (1965) रहे।

उन्हें भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि समाज के सभी घटक यह अनुभव करते हैं कि यह बात गलत है और ये अत्याचार रुकने चाहिये। इस दिशा में वे प्रयत्नशील भी हैं। उन्हें (अस्पृश्यों को) भी अभिप्रेत है कि अन्याय समाप्त होकर, उन्हें सब के साथ समानता का स्थान प्राप्त हो। अतः सभी लोगों का इस दिशा में प्रयास होना चाहिये। इन प्रयत्नों के लिये साधक भाषा का उपयोग और आचरण होना भी आवश्यक है। समाज के अन्यायपूर्ण तथा बुरी बातों की निंदा अथवा आलोचना तो अवश्य होनी चाहिये, किन्तु साथ ही अपने समाज के दोषों के प्रति व्यथा की भावना भी प्रकट होनी चाहिये। जिस प्रकार विदेशी लोग हमें परकीय मानकर तुच्छता और तिरस्कारपूरर्ण बर्ताव करते हैं, उस प्रकार का भाव हममें नहीं होना चाहिये। सभी को इस बात की सावधानी बरतनी चाहिये कि भूतकाल के झगड़ों को वर्तमान में घसीटकर अपने भविष्य को कोई खतरें में न डाल दे। हम सब इसी समाज के अंग हैं अतः हम समाज के अन्य घटकों के साथ रहेंगे, इस प्रकार का वास्तविक आग्रह उन्हें रखना चाहिये। ऐसा करने पर ही बहुत बड़ा दलितेतर समाज और दलितों की शक्ति एकजुट होगी और उस शक्ति के आधार पर अपेक्षित सामाजिक समता का वातावरण बन सकेगा।

महात्मा फुले, गोपालराव आगरकर अथवा डॉ. अंबेडकर जैसे महापुरुषों ने अपने समाज की बुराईयों पर कड़े प्रहार किये हैं तथा कुछ जातियों तथा ग्रन्थों की कटु आलोचना भी की है। उसका क्या प्रयोजन था तथा उस समय की परिस्थिति क्या थी? इसे हमें समझना होगा। व्यक्ति प्रारंभ में किसी बात की ओर ध्यान आकर्षित कराने के लिये तथा जनमत जागृत करने के लिये कड़ी भाषा का प्रयोग करता है, किन्तु सदा–सर्वदा ऐसा करते रहना सबके लिये आवश्यक नहीं है।

मेरी यह धारणा है कि दलित बंधु किसी की कृपा नहीं चाहते हैं, वे बराबरी का स्थान चाहते हैं और वह भी अपने पुरुषार्थ से ही। हमारे ये भाई अब तक पिछड़े हुए होने के कारण चाहते हैं कि उन्हें सभी प्रकार की सुविधायें और अवसर मिलने चाहिये। उनकी यह अपेक्षा और मांग उचित ही है। किन्तु अन्ततोगत्वा उन्हें समाज के विभिन्न घटकों के साथ योग्यता की कसौटी पर स्पर्धा करके ही बराबरी का स्थान प्राप्त करना है। यह उन्हें भी अभिप्रेत होगा।

अपने समाज का ऐतिहासिक कालखंड काफी लंबा है तथा उसमें विचार और आचार की स्वतंत्रता के लिये पूर्ण गुंजाइश होने के कारण पुराने ग्रन्थों में कुछ ऐसे वचनों का उल्लेख मिलता है जिनका विपरीत अर्थ निकालकर विषय का विपर्यास किया जा सकता है। इस संस्कृति ने स्त्री को तुच्छ माना है, यह बताने के लिये–'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति (स्त्री स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं है) का उल्लेख किया जाता है

परंतु दूसरी ओर स्त्री को अपने समाज में कितना ऊँचा स्थान प्राप्त है, यह बताने के लिये–'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' (जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता वास करते हैं) इस प्रकार का वचन भी यहाँ उपलब्ध है। जो लोग समाज की एकता चाहते हैं उन्हें एकता के लिये जो–जो बातें आवश्यक व अनुकूल हैं, वे सभी लोगों के सामने किस प्रकार लायी जा सकेंगी तथा उनकी विपरीत धारणायें कैसे दूर हो सकेंगी और उनमें किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा, इस दिशा में प्रयास करना होगा।

5 सामाजिक समरसता: समता की पूर्वपीठिका

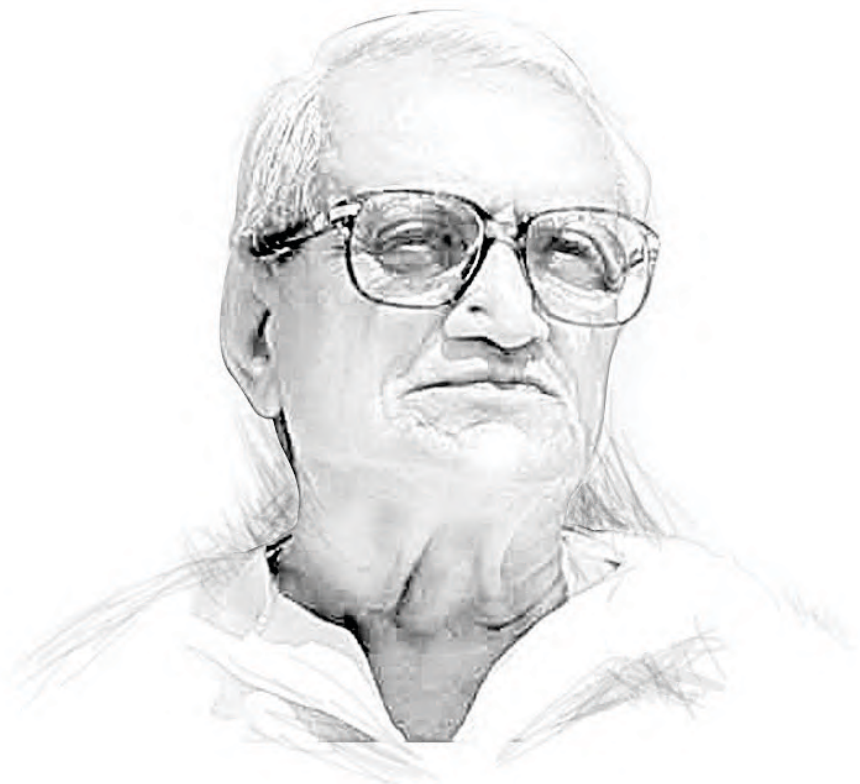

(10 नवंबर, 1920 — 14 अक्टूबर, 2004)

दत्तोपंत ठेंगड़ी

दत्तोपंत ठेंगड़ी विकासशील देशों के उन कुछ नामों में एक थे जिन्होंने पश्चिम द्वारा आरोपित वैश्वीकरण और उदारीकरण के दर्शन का रचनात्मक प्रतिकार किया था। वे वैकल्पिक सामाजिक–आर्थिक संरचना के पक्षधर थे। उनकी पुस्तक 'थर्ड वे' पूंजीवाद और साम्यवाद से हटकर नए रास्ते की खोज का सारगर्भित संदेश है। ठेंगड़ी बहुआयामी व्यक्तित्व के अनुपम उदाहरण हैं। उनके व्यक्तित्व में दार्शनिकता, संगठनकर्ता और नेतृत्व–कला का दुर्लभ संयोग मिलता है। उन्होंने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में दर्जनों संगठनों की नींव डाली। जब पचास–साठ के दशक में मजदूर आंदोलन पर वामपंथ का एकाधिकार था तब उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रेरणा से भारतीय मजदूर संघ की स्थापना की जो शून्य से शिखर तक पहुंचा। यह दशकों से देश का सबसे बड़ा और प्रभावी मजदूर संगठन है। गैर–वामपंथी मजदूर आंदोलन के नेतृत्व के रूप में शायद वे दुर्लभ अपवाद हैं जिन्हें वामपंथी ट्रेड यूनियन नेताओं ने सहजता और सम्मान से स्वीकार किया है। स्वाध्याय, सत्संग और चिंतन उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग था।

वे स्पष्टवादी थे। बीसवीं शताब्दी के अंत में भारत में दलित आंदोलन के उभार से उत्पन्न राजनीतिक विमर्श में जब बाबासाहब अंबेडकर पर 'शोध' के नाम पर अनेक प्रकार की टीका टिप्पणी की जा रही थी तब ठेंगड़ी ने 'डॉ. अम्बेडकर और साामाजिक क्रांति की यात्रा' पुस्तक की रचना की थी। यह उनके जीवन की अंतिम पुस्तक थी। वे बाबासाहब को एक प्रतिबद्ध सुधारक और मौलिक चिंतक के रूप में देखते थे। समाज में बदलाव के साथ भ्रातृत्व का समावेश कैसे हो इसके लिए संघ की प्रेरणा से ठेंगड़ी ने 'सामाजिक समरसता मंच' की स्थापना की थी। प्रस्तुत निबंध श्री ठेंगड़ी के भाषणों पर आधारित है, जो वस्तुतः सामाजिक सुधार का एक दर्शन है।

सारांश

'सामाजिक समरसता मंच' सामाजिक परिवर्तन के उस दर्शन पर आधारित है जिसमें बदलाव का अर्थ होता है दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन और एकत्व की भावना का संचार। डॉ. बाबासाहब अबंडेकर एवं डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार दोनों के दृष्टिकोण, लक्ष्य और त्याग–तपस्या का सार समाज को सुदृढ़ करना, विषमता को समाप्त करना और राष्ट्र की नींव को मजबूत करना था। उनकी प्रेरणा अपने–अपने मन को पवित्र कर सामाजिक परिवर्तन हेतु समर्पण के भाव से कार्य करने की थी।

सामाजिक समता का प्रश्न बहुत जटिल और बहुमुखी हो गया है। राजनीति इसकी जटिलता को बढ़ाने का काम करती है। सामाजिक पहल ही समाधान है। समरसता की भावना का संचार जिस अनुपात में होगा समता भी उसी अनुपात में सुदृढ़ और दीर्घायु बनेगी।

सामाजिक समरसताः समता की पूर्वपीठिका

दिनांक 14 अप्रैल 1983 के दिन "सामाजिक समरसता मंच" की स्थापना हुई। इसके कई कारण थे। हम देख रहे हैं पिछले कई वर्षों में देश की परिस्थिति बिगड़ती जा रही है। अनेक नये प्रश्न उत्पन्न हो रहे हैं। मूल बीमारी पर ध्यान दिए बिना तात्कालिक इलाज किया जा रहा है। इस मरहमपट्टी से एक घाव तो ठीक हो जायेगा लेकिन दूसरा पैदा हो सकता है, जिसकी पुनः मरहमपट्टी करनी होगी। यह बात सत्य है कि मरहमपट्टी करना एवं उसे ठीक करना तात्कालिक आवश्यकता है। उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। परंतु साथ ही मूल बीमारी क्या है, मूल रोग क्या है? इसका निदान कर रक्तशुद्धि के लिये दवा लेना भी आवश्यक है। यही स्थायी उपचार है। आज पंजाब सुलग रहा है, कल असम अधोगति को प्राप्त हो रहा है, परसों तमिलनाडु गायब हो गया है, इस प्रकार के विचार हमारे मन में आते हैं। क्या इन सभी प्रश्नों का किसी ने गहनता एवं गंभीरता से विचार किया है? अगर किया है तो क्या इस बीमारी का कुछ निदान किया गया है? जब हम इसकी छानबीन करने लगे तो ध्यान में आया कि कुछ श्रेष्ठ पुरुषों को समाज ने उस समय जितनी देनी चाहिए उतनी मान्यता नहीं दी है। परंतु आनेवाला समय उन्हें मान्यता दिए बिना नहीं रहेगा। ऐसे कुछ श्रेष्ठ पुरुष हमारी आंखों के सामने इस देश में हो चुके हैं जिन्होंने इस प्रकार के कुछ निदान किए हैं एवं उसके लिये कुछ उपाय सुझाए हैं और उन पर अमल भी किया है। पिछले साल संयोग से ऐसे दो श्रेष्ठ पुरुषों अंग्रेजी कालगणना के अनुसार पूजनीय बाबासाहब और हिंदू कालगणना के अनुसार पूजनीय हेडगेवार जी का जन्मदिवस एक ही दिन 14 अप्रैल

को पड़ा। इस शुभ मुहूर्त पर 'सामाजिक समरसता मंच' की स्थापना की गई। इस सामाजिक समरसता मंच से कोई बड़ा कार्य अपेक्षित न होने के बावजूद सामाजिक चिंतन करनेवाले लोगों को हमेशा एकत्रित कर, उनके चिंतन को गति देकर, उनमें समन्वय स्थापित करने का छोटा सा काम किया जाए इस कल्पना से इसका गठन हुआ।

उस समय प्रेरणादायकों के रूप में इन दो डॉक्टरों का आपके समक्ष उल्लेख हुआ था। उनमें से पू. डॉ. बाबासाहब अंबेडकर जी के जन्मदिन के अवसर पर आज हम एकत्रित हुए हैं। यद्यपि यहाँ उनके जीवन के विषय में हम विचार नहीं करने वाले हैं फिर भी मुझे लगता है कि भविष्य में जो उनके कार्य का मूल्यांकन होने ही वाला है उसको ध्यान में रखकर आज उन्हें श्रद्धांजलि देते समय उन्हें क्या अभिप्रेत था, उन्हें क्या चाहिए था और उन्हें जो चाहिए था वह सामने लाने के क्या मार्ग है? इस विषय में संक्षेप में विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

डॉ. अम्बेडकर के प्रति आकर्षण

विषय प्रारंभ करने के पूर्व ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यहाँ यह बात स्पष्ट करना उचित होगा कि मैं व्यक्तिगत रूप से बाबासाहब के प्रति क्यों आकृष्ट हुआ? मेरा और उनका अच्छा संबंध था। यह संबंध समान स्तर का नहीं था। मैं एक छोटा, युवा कार्यकर्ता और वे एक ज्येष्ठ, श्रेष्ठ भारतीय (राष्ट्रीय) स्तर के नेता, इनके बीच जैसा सम्बन्ध होता है वैसा वह संबंध था।

1950 तक पू. बाबासाहब का केवल नाम ही सुना था। परन्तु उनके विषय में मेरी धारणा एक वर्गविशेष के नेता की थी। उनसे व्यक्तिगत संबंध नहीं था। जीवन–चरित्र के विषय में जानकारी नहीं थी। कार्य के विषय में भी जानकारी नहीं थी। प्रथमतः 1950 के आसपास हम कुछ तरुण इस व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट हुए। इसका एक कारण यह था कि मेरे जीवन के तीन वर्ष राजनैतिक कार्य में व्यतीत हुए। उस समय दो बड़े नेता, दोनों डॉक्टर उनके एक कार्य के कारण से हम तरुण उनकी ओर आकर्षित हुए थे। एक डॉ. बाबासाहब अंबेडकर, दूसरे डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी! दोनों को पं. जवाहरलाल जी ने प्रथम मंत्रिमण्डल में स्थान दिया था। परंतु दोनों ने मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया। हम लोगों को यह बात बड़ी असाधारण लगी। इन दोनों डॉक्टरों में व्यावहारिक विवेक का पूर्ण अभाव देखकर बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई क्योंकि सच माने तो व्यावहारिक विवेक यही है कि हम मंत्री हैं, मंत्रिमंडल में रहें, ज्यादा हलचल न करें यही ठीक है। डॉ. बाबासाहब से जवाहरलालजी ने कहा था कि हम आपको वित्त विभाग देंगे किंतु आगे चल कर वह नहीं दिया। ऐसा होने पर भी गाड़ी में बैठे रहें, गाड़ी आगे जाएगी,

कभी तो टर्मिनस, स्टेशन आएगा, "को कालः फलदायकः" कभी न कभी अपना भविष्य उज्ज्वल हो सकता है, आज नहीं तो कल, यह सरल विचार छोड़कर या आज सभी लोगों में सत्ता की प्राप्ति के लिये सिद्धांतों का उपयोग करने का जो एक उन्नतिशील विचार है। सत्ता की प्राप्ति हो, सत्ता में अपना सहभाग हो इसलिये सिद्धान्तों की घोषणा करने का जो एक उन्नतिशील व्यवहारिक विचार है, वह न अपनाते हुए, सिद्धांतों के लिये सत्ता का उपयोग, सत्ता में रहकर भी सिद्धांतों की सेवा न होते देख सत्ता को ठुकराकर बाहर आना, यह जो पागलपन इन दोनो डॉक्टरों ने दिखाया, उसकी वजह से उनके प्रति युवाओं में एक श्रद्धा उत्पन्न हुयी और उसके बाद धीरे–धीरे उनका सानिध्य प्राप्त करने का योग बना।

प्रथम चुनाव के पूर्व पू. बाबासाहब नागपुर आए थे। सभा के बाद प्रेस कान्फ्रेन्स हुयी। प्रेस कान्फ्रेन्स में उन्होंने कुछ प्रश्नों के उत्तर दिए। नागपुर टाइम्स के एक प्रेस संवाददाता श्री शरद शेवडे जो कि मेरे मित्र भी थे, बाद में रुके हुए थे, बाबा से बोले, "बाबासाहब मुझे एक प्रश्न पूछना है। मैं वह खुलेआम नहीं पूछ सकता था।" पू. बाबासाहब बोले, "क्या है?" "आपने ऐसा कहा है कि हमने जो शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन चुनावी अखाड़े में उतारा है, वह केवल सरकार का विरोध करने के लिये नहीं है। अखण्डरूप से केवल विरोधी पक्ष के रूप में काम करने के लिये नहीं, अपितु हमारी सरकार बनाने की भी भूमिका है, आकांक्षा है। आप यह बताइए की आपको कितने वर्षों में लग रहा है कि आप सरकार बना सकते है?" इसपर पू. बाबासाहब जी ने कहा, "मैं कोई ज्योतिषी नहीं हूँ। किसी ज्योतिषी से पूछो।" उनके बोलने का अंदाज ऐसा ही था। श्री शेवडे ने कहा, "ऐसे नहीं, लेकिन एक सामान्य अनुमान?" उसपर बाबा ने कहा, "देखो तुम जरा इंग्लैंड का इतिहास पढ़ो। ब्रिटिश लेबर पार्टी की स्थापना कब हुई और ब्रिटिश लेबर पार्टी को पहली बार स्पष्ट बहुमत किस वर्ष मिला, यह तुम पढ़ो। जिससे तुम अनुमान लगा पाओगे।"

परंतु उस समय पू. बाबासाहब की उम्र को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट था कि शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन पार्टी को साधन या माध्यम के तौर पर उपयोग में लाने के बाद अपने जीवनकाल में वे प्रधानमंत्री हो सकें, ऐसी क्षमता उनके जैसे बुद्धिमान व्यक्ति ने नहीं सोची होगी। यह बात हमें समझ में आ रही थी।

तत्त्वनिष्ठ व्यवहार

इसके बाद दूसरा ऐसा ही एक प्रसंग उपस्थित हुआ। मई 1954 के पहले सप्ताह में भंडारा में उपचुनाव थे। उस वक्त उस आरक्षित चुनाव–क्षेत्र में कांग्रेस के दो– एक आरक्षित और एक सामान्य उम्मीदवार खड़े थे। विरोध में आरक्षित के लिये बाबासाहब,

सामान्य के लिये एक दूसरी अखिल भारतीय पार्टी के एक बड़े उम्मीदवार थे। दल का नाम लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आज वह दल महाराष्ट्र में अस्तित्व में नहीं है। उस श्रेष्ठ पुरुष का नाम लेने का कोई कारण नहीं है क्योंकि वे आज राजनीति में नहीं हैं। संक्षेप में स्थिति ऐसी थी कि शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के लोगों ने दूसरा वोट कांग्रेस के अतिरिक्त किसी को भी दिया तो यह दूसरा व्यक्ति चुनकर आयेगा, किंतु आरक्षित से बाबासाहब चुनकर नहीं आयेंगे। जिस पार्टी के वे उम्मीदवार थे उस पार्टी की प्रसिद्धि के लिये दूसरे से समझौता होने के बाद दूसरे के वोट अपने बक्से में डालना, यह कला उन्हें पता थी। लेकिन अपने वोट दूसरों के पक्ष में करने का जोखिम वे नहीं उठाना चाहते थे। मुंबई में एक बार यह अनुभव होने के बाद सबके मन में था कि यहां वोट देने में कोई लाभ नहीं है।

विचार–विमर्श के लिये बैठक की गई। उस समय एक छोटे कार्यकर्ता के रूप में मैं उपस्थित था। कार्यकर्ताओं ने बड़े ताव में आकर अपने सुझाव सामने रखे। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि, "देखिए दूसरा वोट इन्हें दें तो कांग्रेस के वे श्री ... चुनकर आयेंगे। बाबासाहब हार जायेंगे। इसलिये अपना दूसरा वोट जलाना होगा।" (उस समय हमारे विदर्भ में एक उक्ति थी– किसी को भी वोट न देना यानि उसे जलाना) इसी बात की चर्चा चल रही थी। बाबासाहब ने उसे सुना। वे बैठक में आकर बैठ गये। उन्होने पूछा, "क्या चर्चा हो रही है?" सभी ने कहा, "दूसरा वोट जलाना होगा। उसे जलाया नहीं तो आप हार जायेंगे।"

उस समय अत्यंत निश्चलता से उन्होंने कहा कि, "देखिए, संविधान मैंने तैयार किया है। मैं यह कह नहीं सकता और सह नहीं सकता कि मेरे अनुयायियों द्वारा संविधान का उल्लंघन किया जाय। आप दूसरा वोट जला दें यह मैं नहीं कहूंगा। मैं इसकी अनुमति नहीं दूंगा। मैं संविधान का उल्लंघन सहन नहीं करूंगा। ऐसा न करने पर यदि मैं चुनाव हार गया तब भी ठीक है। परंतु दूसरा वोट जलाने की अनुमति मैं आपको नहीं दूंगा।" और सच में परिणाम ऐसा ही आया। वे दूसरे महानुभाव जीत गये। बाबा हार गये। चुनाव जीतने का इतना सरल रास्ता होते हुए भी उन्होंने यह स्थिति स्वीकार की। इतना ही नहीं उनमें एक लगन भी थी। उनमें जो तत्त्वनिष्ठा थी, उस तत्त्वनिष्ठा के कारण उनका कुछ पृथक् व्यक्तित्त्व है, ऐसा हमें लगने लगा था।

दूरदर्शी कल्पना

तीसरी घटना धर्मचक्र–प्रवर्तन के समय घटी। उस समय होटल 'शाम' में कार्यकर्ताओं की बैठक हुई। भारतीय बौद्धजन समिति के शाखा कार्यवाह श्री वामनराव गोडबोले औपचारिक रूप से इस बैठक में आमंत्रित थे, किंतु वास्तव में यह बाबासाहब के सभी

प्रमुख कार्यकर्ताओं की बैठक थी। धर्मांतरण के पिछले दिन अर्थात् दि. 13 अक्तूबर 1956 की रात का यह प्रसंग है– जिस समय चर्चा हुई, उस समय, उस जगह चाय और पोहा की प्लेट देनेवाले कार्यकर्ता के रूप में मैं वहाँ उपस्थित था। डॉ. अम्बेडकर ने कार्यकर्ताओं से कहा, "हम धर्मपरिवर्तन कर रहे हैं; किंतु हमारी पूरी योजना क्या है वह समझना आवश्यक है।" उन्होंने कहा, " जो हमारे सिद्धांत है उनके लिये बहुत विस्तृत आधार तैयार होना आवश्यक है।" स्पष्ट है कि उस बैठक में उन्होंने सिद्धांत आदि कुछ नहीं बताया, यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि वहां बैठे हुए सब लोग उनके साथी थे और वर्षों से, दशकों से उनके अनुयायी थे। लेकिन बाबा ने कहा, "हमारे जो सिद्धांत हैं उन सिद्धांतों के लिये हमें आधार तैयार करना होगा। इसके लिये हमें अपनी भावी व्यूहरचना ध्यान में रखनी होगी।" यह कैसी व्यूहरचना इस पर वे बोले, "जो भाग शेड्यूल्ड कास्ट का है, वह सामाजिक दृष्टि से हमारा है ही। अब हम बौद्ध मत को स्वीकार करनेवाले हैं। शेड्यूल्ड कास्ट में से कुछ लोग बौद्ध हो जायेंगे। बौद्ध शेड्यूल कास्ट हमारे रहेंगे और जो बौद्ध मत नहीं ग्रहण करेंगे ऐसे शेड्यूल कास्ट के लोग भी पहले से हमारे हैं ही; किंतु बौद्धमत को सिर्फ शेड्यूल्ड कास्ट तक सीमित नहीं रखना है अपितु शेड्यूल कास्ट के बाहर भी उसका प्रचार करना है। इसके कारण वे लोग भी हमारे पास आयेंगे जो शेड्यूल्ड कास्ट नहीं है, किंतु उनका बौद्ध मत के विषय में विश्वास है, और 'नॉन शेड्यूल्ड कास्ट बुद्धिस्ट' वर्ग हमारे पास तैयार होगा अर्थात् (1) बुद्धिस्ट शेड्यूल्ड कास्ट (2) शेड्यूल्ड कास्ट नॉन बुद्धिस्ट और (3) नॉन शेड्युल्ड कास्ट बुद्धिस्ट, इस प्रकार के वर्ग उत्पन्न होंगे। हम नयी पार्टी की भी स्थापना कर रहे हैं। इस पार्टी के कुछ सिद्धांत हैं। प्राच्य एवं पाश्चात्य लोकशाही के सिद्धांत जिनका आधार हैं।"

"मुझे पता है कि तुम्हारा धर्म की अपेक्षा राजनीति के प्रति अधिक उत्साह है। परंतु मुझे राजनीति की अपेक्षा धर्म में विशेष रस मिलता है। शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन ने दलित वर्ग में स्वाभिमान और आत्मप्रतिष्ठा का निर्माण किया है। किंतु दलित–वर्गीय लोगों ने अपने और अन्य समाज के मध्य एक बड़ी दीवार खड़ी की है। स्थिति यह हो गयी है कि अस्पृश्य वर्ग के उम्मीदवार को अन्य लोग वोट नहीं देते हैं और वे स्वयं भी दूसरे पक्ष के लोगों को वोट नहीं देते। इसलिये जिन्हें दलितों के प्रश्नों के विषय में सहानुभूति है, उनकी सहायता से एक राजकीय पक्ष की स्थापना करें और दूसरे पक्षों के नेताओं के साथ कार्य करने का प्रयत्न करें। वस्तुस्थिति का अवलोकन करने का समय अब आ गया है। हमारे इस नये पक्ष के सिद्धांत जिन्हें स्वीकार हैं, ऐसे लोग भी हमारे पास आयेंगे। उसमें से कुछ शेड्यूल कास्ट के बाहर के भी होंगे। कुछ बौद्धमत मानने वाले होंगे, कुछ बौद्धमत न मानने वाले होंगे। अर्थात् हमारे पास ऐसे भी गुट और तैयार हो

जायेंगे जो नॉन शेड्यूल्ड कास्ट नॉन बुद्धिस्ट रिपब्लिकन्स हैं। ऐसे भी गुट होंगे जो नॉन शेड्यूल्ड कास्ट, नॉन–रिपब्लिकन बुद्धिस्ट है। तो एक धर्ममत, एक राजनैतिक मत और एक सामाजिक गुट इन तीनों की जितनी भी अलग–अलग श्रेणियाँ हो सकती हैं उन सभी को मिलाकर भिन्न–भिन्न प्रकार के लोग हमारे पास आयेंगे। इससे कम अथवा अधिक परिमाण में हमारे सिद्धांतों के अनुकूल एक सामाजिक आधार तैयार हो जायेगा।"

यह अक्तूबर 1956 की बात है। उस समय उनकी प्रकृति, उनकी आयु और उनकी बतायी हुयी यह व्यूहरचना सुनकर ऐसे लग रहा था कि यह इतनी लम्बी व्यूहरचना और उससे जो फलप्राप्ति होनेवाली है, उसे देखने के लिये वे स्वयं (जीवित) रहने वाले नहीं है, यह उन्हें ज्ञात होगा ही। परन्तु यह सब ज्ञात होते हुए भी एक दृष्टि सामने होने से, एक ध्येय सामने होने से एवं उसका फल देखने के लिये जीवित रहें या न रहें, किंतु वह ध्येय सिद्ध होना ही चाहिए इस भाव से यह वृद्ध व्यक्ति इतनी जी तोड़ मेहनत कर रहा है, सुखी जीवन छोड़कर कष्ट सहन कर रहा है। इस व्यावहारिक सूझबूझ का मार्ग छोड़कर ढलती आयु में प्रकृति का साथ न होने के बाद भी यह व्यक्ति इतनी कठिनाईयां उठा रहा है, क्यों? वह भी एक दीर्घकालीन दृष्टि सामने रखकर। यह उनके श्रेष्ठ व्यक्तित्व का प्रतीक है। बाबासाहब के प्रति आत्मीयता और आदर में वृद्धि होने का एक और कारण था– उनका संगठनात्मक विचार।

संगठनात्मक व्यवहार की ओर ध्यान

पूज्य बाबासाहब की विशेषता यह थी कि अत्यंत उच्च स्तर के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते समय व्यवहार के छोटे–छोटे संगठनात्मक ज्ञान पर भी उनका पूर्ण ध्यान होता था। उदाहरण के लिये– दि. 14.7.1952 को मुंबई के दामोदर हॉल में हुयी सभा में बिल्डिंग–फंड के पैसों के विषय में बोलते हुए उन्होंने कहा, "हमारे लोगों ने जो रकम दी है। उसमें से अलग–अलग स्थानों के लोगों ने, संस्थाओं ने और व्यक्तियों ने 25 रु. या उससे अधिक की रकम दी है। ऐसी कुल रकम 25,709 रु. 4 आना है। 25 रुपयों से कम रकम देनेवालों की रकम 1000 रुपये है और जिसकी कोई जानकारी नहीं मिली ऐसी रकम 5000 रुपये की है। इन पाँच हजार रुपयों की जानकारी क्यों नहीं मिली? लोगों ने ली हुयी रसीद बुक वापस नहीं की है, इसलिये इसकी जानकारी नहीं मिली है। इन रसीद–बुकों में और भी पैसे जमा होने की संभावना है और यह अधिक जमा हुए पैसे लोगों द्वारा खाये गये हों यह संदेह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसलिये यह संदेह मिटाने के लिये लोगों द्वारा ली गयी सभी रसीद–बुक शेष पैसों के साथ लौटा दी जानी चाहिए। बुक न लौटाना या जमा किए गये पैसे न देना धोखा है और कानून द्वारा ऐसी

धोखाधड़ी को अपराध कहा गया है। इस बात को सभी ध्यान में रखें।"

कार्यकर्ताओं से वार्तालाप

कार्यकर्ताओं से बाबासाहब द्वारा किए गये वार्तालाप का कुछ अंश केवल उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर रहा हूँ।

"अपना घर छोड़कर दूसरे की हवेली में घुसना बड़ी मूर्खता है। अपनी झोपड़ी सुरक्षित रखिए। ऐसा न करने पर हमारी स्थिति भी ब्राह्मणेतर पक्षों की तरह हो जाएगी। ब्राह्मणेतर पक्षों की क्या दुर्दशा हुई है? 1932 तक हम साथ मिलकर काम कर रहे थे, उस समय ब्राह्मणेतर नेताओं को यद्यपि कांग्रेस से बाहर रहकर कोई फायदा नहीं हुआ और अंदर जाकर, कांग्रेस का किला अंदर से खोखला कर सकेंगे, बाहर से ऐसा नहीं कर पाएंगे, इस भ्रम में वे कांग्रेस में गये। मैंने उन्हें कई बार समझाया परंतु उन्होने मेरी नहीं मानी। बाद में उन्हें अनुभव हुआ कि हम अंदर आये यह भयंकर गलती हो गयी। स्थिति को वे फिर से कितना संवार सकेंगे इस विषय में मुझे आशंका है। हम झोपड़ी तोड़कर समझौता करें यह मुझे बिल्कुल मान्य नहीं। झोपड़ी तोड़कर हम कुछ नहीं करेंगे।"

"किसी भी पक्ष के साथ सहयोग करते समय, चाहे वह पक्ष कांग्रेस हो, सोशलिस्ट हो या शेतकरी कामगार पक्ष हो, हमें अपनी संघटना नहीं तोड़नी चाहिए। व्यक्तिगत दृष्टि से मनुष्य का कोई मूल्य नहीं है। आज मेरा कांग्रेस–दल में और राजनीति में जो सम्मान है उसका एकमेव कारण यह है कि मेरे साथ शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन संगठन है। जिस दिन संस्था का यह आधार नष्ट हो जायेगा उस दिन राजनीति में मेरा कोई मूल्य नहीं होगा। इसलिये देशरक्षा की भावना को मन में रखकर भविष्य की राजनीति में शत्रु और मित्रों का सम्बन्ध जानकर, स्वत्व बरकरार रखते हुए सावधानी से शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के नेतृत्त्व में हमें मार्ग बनाना होगा।"

"अब हमें अपना मन पवित्र करना होगा। सद्‌गुणों की ओर हमारा आकर्षण होना चाहिए। इस प्रकार हमें धार्मिक बनना होगा। ऐसा नहीं है कि हम शिक्षा ग्रहण करते हैं तो सब कार्य सम्पन्न हो गया। इसमें कोई शंका नहीं कि शिक्षा का महत्व है। किंतु शिक्षा के साथ मनुष्य का शील भी सुधरना चाहिए। शील के बिना शिक्षा का मूल्य शून्य है। ज्ञान तलवार की तरह है। सोचिए एक आदमी के हाथ में तलवार है, उसका सदुपयोग करना है या दुरुपयोग यह उस मनुष्य के शील पर निर्भर करता है। वह उस तलवार से किसी की हत्या भी कर सकता है तथा किसी की रक्षा भी कर सकता है। ज्ञान भी ऐसा ही है। एक शिक्षित व्यक्ति, उसका शील अगर अच्छा हो तो अपने ज्ञान

का उपयोग लोक—कल्याण के लिये करेगा। किंतु उसका शील अच्छा नहीं होगा तो वह अपने ज्ञान का उपयोग लोक के अहित के लिये करेगा। शील धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है। शिक्षित व्यक्ति केवल स्वार्थी होकर नहीं रह सकता। जिन्हें स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखायी देता और उन्हें थोड़ा सा भी परमार्थ करना नहीं आता। वे मनुष्य केवल शिक्षित हैं तो क्या हुआ? उनका दूसरों को क्या लाभ? "जैसे कड़ाही घिस—घिस कर दर्पण जैसे चमक उठती है, वैसे ही शिक्षा का उपयोग होना चाहिए।"

"कार्यकर्ताओं की यह भावना हो गई है कि चुनाव ही राजनीति है। चुनाव से पृथक् राजनीति का दूसरा कोई अर्थ नहीं। इसीलिये चुनाव के समय टिकट पाने के लिये सभी संघर्ष करते हैं और चुनाव समाप्त होते ही सब अपने घर में बैठ जाते हैं। परंतु समाज—जीवन के लिये राजनीति एक गौण कारण है, राजनीति ही सर्वस्व नहीं है। समाज की जो उन्नति होती है वह केवल राजनीति से नहीं होती। समाज—उन्नति के अनेक कारण हैं। समाज के सामाजिक, आर्थिक पहलू कुछ कम महत्त्व के नहीं हैं। राजनीति ही महत्त्वपूर्ण है ऐसी भावना होने के कारण ही चुनाव के समय टिकट पाने के लिये संघर्ष करना, टिकट न मिलने पर समाज में विभाजन करना, चुनाव में हार जाने के बाद निराश होकर घर में बैठना और जीतने के बाद असेम्बली में जाकर मुंह बंद करके बैठना, यही कार्य है। कार्यकर्ताओं की यही भावना होती है।

"मैं व्यक्तिगत रूप से किसी भी कार्यकर्ता से प्रेम नहीं करता। प्रेम केवल कार्य से होता है। जो कार्य करता है वहीं मुझे प्रिय है।

"मेरी इच्छा से अगर व्यवस्था चलेगी तो ही मैं संस्था में रहूंगा, यह प्रवृत्ति गलत है।

"हमारी फेडरेशन में भी ऐसे बाजारवादी लोग सम्मिलित हो गये हैं। उन्हें अगर अब फेडरेशन तोड़नी हो तो वे अभी यहां से चलते बनें। उनके लिये इसमें जगह नहीं है। दो मार्गों पर पांव न रखें। फेडरेशन का यह वृक्ष शीघ्र फल नहीं देगा, उसके फल विलंब से प्राप्त होंगे, किंतु वे चिरकाल तक स्थायी रूप से रहेंगे। जो पेड़ शीघ्र उगता है और शीघ्र फल देता है वह पेड़ शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। ऐसा पेड़ हमारे किसी उपयोग का नहीं। जिन्हें शीघ्र फल की आशा है, वे वहां जायें।

"जिनके पास धैर्य नहीं हो वे नेता नहीं बन सकते। जो मनुष्य मरने के लिये तैयार होता है वह कभी भी मरता नहीं और जो मृत्यु से डरता है वह पहले से ही मरा हुआ होता है, ऐसा समझना चाहिए।

"किसी को राजनीति ही करनी हो तो उसे राजनीति का अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास के बिना विश्व में किसी के लिये कुछ भी प्राप्त करना संभव नहीं है। हमारे समाज के प्रत्येक कार्यकर्ता को राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक सभी प्रश्नों का सूक्ष्मता से अभ्यास करना आवश्यक है। जिन्हें नेता बनना है उन्हें नेता के कर्तव्य–कर्म, नेता का उत्तरदायित्व क्या है इस बातों का ध्यान रखना होगा। क्योंकि हमारे समाज के नेताओं पर अत्यंत बड़ी जिम्मेदारी है। अन्य समाज के नेताओं की तरह हमारे समाज के नेताओं की स्थिति नहीं है। अन्य समाज में नेताओं का सभा में जाना, बड़े–बड़े भाषण देना, तालियां पाना और अंत में गले में हार पहन कर घर आना इतना ही काम होता है। हमारे समाज के नेताओं का यह करके निर्वहन नहीं होगा। विधिवत् अभ्यास करना, विचार करना, समाज की उन्नति के लिये स्वयं दिन–रात परिश्रम हमारे नेताओं को करना होगा। तभी वे लोगों का थोड़ा भला कर पायेंगे। वही वे नेता बन पायेंगे। आपको लगता है नेता बनना सरल है, लेकिन मेरे विचार से नेता बनना बहुत कठिन काम है। मुझे स्वयं नेतागीरी कठिन लगती है, क्योंकि अन्य लोगों की तरह नेतागीरी का गुण मुझ में नहीं है। मैंने जब आंदोलन शुरू किया तब कोई संघटना नहीं थी। सबकुछ मुझे ही करना पड़ता था। संघटना करनी हो तो मुझे स्वयं ही करनी पड़ती थी। अखबार निकालना हो तो मुझे ही निकालना पड़ता था। इसीलिये मूक नायक, बहिष्कृत भारत जनता इत्यादि अखबार मुझे स्वयं ही निकालने पड़े। प्रेस चलाने के लिये मुझे स्वयं ही प्रेस का काम करना पड़ता था।

"क्रोध दो प्रकार के होते हैं। एक द्वेषमूलक, दूसरा प्रेममूलक। कसाई जब कुल्हाड़ी लेकर जाता है तब उसका जो क्रोध होता है वह क्रोध द्वेषमूलक होता है। माँ बच्चे को थप्पड़ मारती है, तो उसे कोई क्या कहेगा? उसका क्रोध प्रेममूलक होता है। बेटा सदाचारी हो इसलिये माँ उसे मारती है। मेरा क्रोध भी प्रेममूलक है। आपका आचरण समतापूर्वक हो इसलिये मैं राजनीति को गालियां देता हूँ।"

भारत के संविधान–निर्माता द्वारा कार्यकर्ताओं की मनःस्थिति का सूक्ष्मता से अवलोकन कर इतना विस्तृत मार्गदर्शन अत्यंत सराहनीय है। बाबासाहब द्वारा कार्यकर्ताओं का यह मार्गदर्शन सभी समूहों के कार्यकर्ताओं के लिये उपयुक्त है। मैं स्वयं संघ का प्रचारक होने के कारण इस प्रकार के मार्गदर्शन की महत्ता अच्छी तरह समझ सकता हूँ।

स्तर के अनुसार व्यवहार

जिन लोगों को साथ लेकर आगे जाना है, उनका स्तर ध्यान में रखकर उनसे बात करना एवं आचरण करना आवश्यक है। प्रारंभिक काल में शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के

नागपुर के अध्यक्ष श्री दशरथ पाटिल के साथ पू. बाबासाहब के स्नेह–संवाद के समय मुझे वहां उपस्थित रहने का अवसर प्राप्त हुआ। 'लाडवण' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में चर्चा हो रही थी। बाबासाहब ने अपने विचार प्रकट करते समय कुछ ऐसे खास वर्हाडी[5] शब्दों का प्रयोग किया कि मुझे अचरज हुआ। संविधान–समिति में उनके विद्वत्तापूर्ण भाषणों की प्रशंसा मैंने सुनी थी; परन्तु वही सज्जन वर्हाडी के विशेष शब्दों का प्रयोग भी उतनी ही सफाई से कर सकते हैं यह देखकर मुझे आनंद हुआ। जिन लोगों को जोड़ना है उनके स्तर पर जाकर बोलने एवं आचरण करने के अतिरिक्त उनको जोड़ना कैसे सम्भव होगा?

दूसरी बात यह है कि उनके विचार इतने सुस्पष्ट और मौलिक होते थे कि उनका उचित प्रकटीकरण करने पर निर्भीकता और प्रसंगवश शत्रुता मोल लेना अपरिहार्य था। एक प्रसंग में उन्हें अनुभव हुआ कि स्पष्टीकरण आवश्यक है–"मेरा स्वभाव आक्रामक है और सत्ताधारी लोगों के साथ अनेक बार नोंकझोंक होती रहती है इसलिये मैं परदेस में भारत के विषय में कुछ कटु शब्द बोलूंगा ऐसी गलत धारणा वे न रखें। मैंने कभी भी देश के साथ विद्रोह नहीं किया। हृदय में सदैव देश का हित ही सोचा है। गोलमेज–सम्मेलन के समय देशहित की दृष्टि से मैं गांधी जी से 200 मील आगे था।"

अन्य एक प्रसंग में उन्होंने कहा है कि "बहुत से हिंदू–मुझे अपना शत्रु समझते हैं; किंतु मेरे कुछ वैयक्तिक मित्र उस ब्राह्मण समाज से हैं, जो ब्राह्मण मेरे समाज के लोगों को कुत्ते–बिल्ली से भी हीन दर्जा देते हैं, उनके इस समाजद्रोही कृत्य का विरोध करना मेरे भाग्य में है। यह परिस्थिति मेरे वश में नहीं।"

वस्तुतः उनके सभी कार्यों में ब्राह्मण और अन्य उच्चवर्णीय लोगों ने बहुत सहायता किया है और बाबासाहब ने उनके प्रति समय–समय पर सार्वजनिक रूप से कृतज्ञता भी व्यक्त की है।

मुस्लिमों के विषय में मत

उनके 'थाट्स ऑन पाकिस्तान'[6] ग्रंथ के कारण उठा बवंडर सभी को स्मरण है। हिंदुत्व के समर्थकों को इस ग्रंथ से बड़ा झटका लगा था। तत्कालीन भावनापूर्ण स्थिति में उनके विचारों के पीछे भी कुछ तर्क हो सकते हैं, यह बात ध्यान में रखना किसी के लिये भी सम्भव नहीं हुआ। ग्रंथ में बाबासाहब के निष्कर्ष से मैं पूर्णतः असहमत हूँ, किंतु

[5] विदर्भ क्षेत्र में बोली जाने वाली वर्हाडी, मराठी की उपभाषा है।
[6] Thoughts on Pakistan

उनके द्वारा दी गयी तर्क–परंपरा सबके लिये और विशेषतः हिंदुत्व–समर्थकों के लिये ध्यान देने योग्य है। "मुस्लिमों के मन पर लोकशाही का प्रभाव नहीं पड़ता। अगर मुस्लिमों को किसी वस्तु से अत्यंत आस्था है तो वह है धर्म। उनकी राजनीति मुख्यतः धर्मनिष्ठ होती है। मुस्लिम समाज अच्छी धारणाओं का विरोधी है। पूरे विश्व में वह प्रतिगामी प्रवृत्ति का प्रतीत होता है। मुसलमान समझते हैं कि मुस्लिम धर्म जागतिक धर्म है। लेकिन 'इस्लाम' का बंधुत्व सर्वव्यापक नहीं है। सार्वत्रिक नहीं है। यह बंधुत्व मुसलमान समाज के अनुयायियों तक ही सीमित होता है। मुसलमान से इतर लोगों के विषय में उनमें तिरस्कार और शत्रुत्व ही होता है। जिस देश पर मुसलमान शासन नहीं करते वह उनके लिये शत्रुभूमि होती है। इसलिये इस्लाम सच्चे मुसलमान के मन में हिंदुस्थान अपनी मातृभूमि है और हिंदू अपना इष्टमित्र है, यह विचार भी आने नहीं देगा।" ऐसा बाबासाहब का स्पष्ट मत है।

हिंदुओं की सहनशीलता

पू. बाबासाहब के मन में सदैव यह विचार रहता था कि हम मुसलमानों को आत्मसात नहीं कर पायेंगे। इसलिये एक विदेशी तत्त्व राष्ट्र–शरीर में रखने की अपेक्षा उसे अलग रखना अच्छा है। आगे चलकर कश्मीर घाटी के विषय में उनके द्वारा ऐसा ही एक प्रश्न उपस्थित होने के बाद इस विषय पर उनसे बातचीत करने का सुयोग प्राप्त हुआ। उस समय पू. बाबा आवेश के साथ बोले, "देशभक्ति में मैं तुम लोगों से तिनका भर भी कम नहीं हूँ; किंतु अंतर इतना ही है कि जूता कहाँ काट रहा है इसका अनुभव मैं सतत् कर रहा हूं और तुम लोगों को 'जूता काट रहा है' इसका भी ध्यान नहीं है। 'कश्मीर घाटी' हिंदुस्थान में रखनी हो तो वहाँ के सभी मुसलमानों को हिंदुसमाज को आत्मसात करना होगा। अगर ऐसा नहीं हुआ तो यह अपने सिरपर निरंतर तलवार टंगी रखने वाली अवस्था होगी। वस्तुतः आपके अपने ही होने के बावजूद आज तक आप हमें पचा नहीं पाए। क्या कश्मीर–घाटी के सभी मुसलमानों को हिंदु समाज में पचाने की शक्ति सवर्ण हिंदुओं में है? आपकी पाचनशक्ति का अनुमान करके ही मैंने कहा है कि इस विदेशी तत्व का देश के अंदर रहने की अपेक्षा देश के बाहर रहना अच्छा है।"

जो भी हो उनका वह निष्कर्ष मेरे गले उतरना असम्भव था। मैंने यह बात उन्हें बता भी दी। मेरे उस मत को उन्होंने एक मासूम बच्चे की बात जैसा ही महत्त्व दिया। पू. बाबा द्वारा निकाला गया निष्कर्ष, हिंदू समाज की वर्तमान पाचन शक्ति पर दुःखद भाष्य था।

फरवरी 1942 में मुंबई में वागले हॉल में 'थाट्स ऑन पाकिस्तान' के संदर्भ में बाबासाहब ने कहा, "जिन्हें पाकिस्तान चर्चा का विषय नहीं लगता उनसे वाद–विवाद करने में कोई लाभ नहीं है। जिन लोगों को पाकिस्तान का गठन अन्याय लगता है उन्हें

गठित होनेवाला पाकिस्तान एक अत्यंत भयंकर वस्तु प्रतीत होगा। लोगो से यह कहना गलत है कि इतिहास भूल जाओ। जो इतिहास भूल जाते हैं, वे इतिहास का निर्माण नहीं कर सकते। भारतीय सेना में मुसलमानों का वर्चस्व कम करने के लिये सेना का एक संघ बनाकर उसे निष्ठावान करना समझदारी है हमारी मातृभूमि का रक्षण हम ही करेंगे! पाकिस्तान मिलने के बाद मुसलमान हिंदुस्थान पर अपना साम्राज्य फैलायेंगे ऐसी भावना न बनायें। हिंदू उन्हें धूल चटा देंगे। मैं स्वीकार करता हूं कि स्पृश्य हिंदुओं से कुछ मुद्दों पर मेरा विवाद है, लेकिन मैं आपके सामने यह प्रतिज्ञा करता हूं कि अपने देश के स्वातंत्र्य की रक्षा के लिये मैं अपने प्राण भी अर्पण करूंगा।"

पू. बाबा के कुछ लाक्षणिक निषेधात्मक कार्यों के कारण सनातनी लोगों को दुःख पहुंचना और क्रोध आना स्वाभाविक ही है। किंतु उन्हें भी बाबा की मनोवृत्ति को समझने का प्रयास करना चाहिए।

विशुद्ध ध्येयवादी

किसी भी कलाकार को अपनी कलाकृति से, साहित्यिकार को अपने साहित्य से आत्यन्तिक प्रेम होना स्वाभाविक ही है। पू. बाबासाहब ने संविधान का निर्माण किया। विश्व ने उनको 'आधुनिक भारत का मनु' उपाधि से गौरवान्वित किया। यह उनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। जिसका उनको कभी अहंकार नहीं हुआ, क्योंकि वे पक्के ध्येयवादी थे। संविधान–निर्माण का कार्य भी उन्होंने इसी दृष्टि से किया कि उससे उनके मूल उद्देश्य की सहायता हो और उसे मान्यता मिले। किंतु अगर ऐसा नहीं हो तो 'आधुनिक मनु' की उपाधि से उनका समाधान नहीं होने वाला था। स्वयं द्वारा निर्मित संविधान से भी उन्हें अंधा असीम प्रेम नहीं था। उसकी न्यूनताओं की उन्हें पूर्णतः जानकारी थी। उदाहरण के लिये, उनका प्रस्तुत निरीक्षण देखिए "दि. 26 जनवरी 1950 को हम एक परस्परविरोधी तनावपूर्ण जीवन में प्रवेश करने वाले हैं। हमारे पास राजनीति में समता होगी और सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में असमानता देखी जाएगी। राजनीति में हर व्यक्ति का एक मत और उसका एक ही मूल्य यह बात हम स्वीकार करेंगे। किंतु हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन में हमारे सामाजिक ढ़ाँचे के कारण एक व्यक्ति, एक मूल्य यह तत्त्व हम अस्वीकार करते रहेंगे। ऐसा विसंगति से भरा जीवन हम कब तक जीते रहेंगे? हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन की समानता की हम कब तक अनदेखी करते रहेंगे? अगर हम समानता की अधिक देर तक अनदेखी करते रहे तो हमारी राजनैतिक लोकशाही खतरे में पड़ जायेगी। इसीलिये यह विसंगति हमें शीघ्रातिशीघ्र दूर करनी होगी, अन्यथा इस संविधान–समिति के द्वारा बड़े परिश्रम से निर्माण किया हुआ लोकतन्त्र का यह ढांचा विषमता के शिकार लोग ध्वस्त कर देंगे।"

दि. 2.9.53 को विधिमंडल में हुए भाषण में उन्होंने कहा, "बहुमत में आयी सरकार की विनती पर मैंने संविधान बनाया। यह मेरी विवशता थी। लोकमत के अनुसार मुझे संविधान बनाना पड़ा। भारत के संविधान में अस्पृश्यों के संरक्षण के विशेष–अधिकार राज्यपाल के पास न होने से उनका योग्य संरक्षण नहीं हुआ है और हो भी नहीं सकता। इसलिये मैं ही सर्वप्रथम यह संविधान जला दूंगा।"

जो मानदंड उन्होंने मनुस्मृति के लिये अपनाया वही स्वयं द्वारा लिखी गयी 'भीमस्मृति' पर भी लागू किया।

धर्म ही विचारों का आधार

पूज्य बाबासाहब के समस्त विचारों का आधार धर्म ही था। अर्थात् इस धर्म के नाम पर ब्राह्मणों ने बहुजन समाज का शोषण किया। उन्हें ज्ञान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के अवसर से वंचित रखा गया और उन्हें अखंड धार्मिक परतन्त्रता में रखकर ब्राह्मणों का निहित स्वार्थ सदैव सुरक्षित रहे यह व्यवस्था बनायी गई। उनकी यह ब्राह्मणों के और 'ब्राह्मणी धर्म' के विरुद्ध कटु टीका बरकरार थी। किंतु यह भी वे स्पष्ट करते थे कि दोष ब्राह्मणों का है, धर्म की मूल कल्पना का नहीं । वे कहते थे कि "विश्व के कुछ कम्युनिस्टों को छोड़कर एक भी ऐसा मनुष्य नहीं मिलेगा जिसे धर्म नहीं चाहिए। वैसे ही हमें भी धर्म की रक्षा करनी होगी। लेकिन वह सद्धर्म हो। ऐसा सद्धर्म जहां लोग समानता से रहें। सब को समान अवसर मिले, यही सच्चा धर्म है; शेष सब अधर्म ही है।"

"हिंदूधर्म की शिक्षा के अनुसार अगर सर्वत्र बृहत् तत्त्व है तब तो वह अस्पृश्यों में भी होना चाहिए। फिर हिंदूधर्म में असमानता क्यों है? भगवान बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुये दो हजार वर्ष बीत गये हैं, लेकिन वह धर्म आज भी पनप रहा है। उसका कोई शासनकर्ता नहीं है या सर्वाधिकारी नहीं है। अंत समय पर भगवान से उनके एक शिष्य ने पूछा, 'भगवन् आपके जाने के बाद इस धर्म का क्या होगा?' तब भगवान ने उत्तर दिया, 'मेरे जाने के बाद धर्म ही तुम्हारा शासक है। अगर तुम उसका अनुगमन नहीं करते हो तो उसका क्या उपयोग? विशुद्ध मन से अपनाया हुआ धर्म ही तुम्हारा शासक है।

"एक बार बुद्ध से विशाख नाम के शिष्य ने प्रश्न पूछा कि धर्म क्या है? 'मलिन मन को स्वच्छ करना धर्म है' यह उत्तर मिला। अस्पृश्यता मार्ग पर गिरा हुआ पत्थर नहीं है जो समाजसुधारक उठाकर हटा सकें। जब हमारा मनोधर्म बदलेगा तब ही धर्म बदलेगा।"

चरित्र की महत्ता

निःसंदेह शिक्षा का महत्त्व है। किंतु उससे भी महत्त्वपूर्ण है चारित्र्य शील। अगर वह नहीं होगा तो शिक्षा भी आत्मघाती हो सकती है। चारित्र्य शील का उद्‌गमस्थान धर्म ही है।

दिनांक 6.2.1954 को श्री अत्रे के 'महात्मा फुले' सिनेमा के उद्‌घाटन के अवसर पर बाबासाहब ने कहा, "आज देश में चारित्र्य ही नहीं है और जिस देश में नैतिकता नहीं है, उस देश का भविष्य अत्यंत दुष्कर है। आपके प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू हो या मोरारजी देसाई, आपके भविष्य में अंधेरा ही छाया हुआ है। देश के मंत्री देश का उद्धार नहीं कर सकते। जिसने धर्म अच्छी तरह से समझा है वही देश को बचा सकता है। महात्मा फुले ऐसे धर्मसुधारकों में से एक थे। विद्या, प्रज्ञा, करुणा, शील और मैत्री इन धर्मतत्त्वों के अनुसार हर एक व्यक्ति को अपना चरित्र–निर्माण करना चाहिए। करुणा के बिना विद्या प्राप्त करने वाले को मैं कसाई समझता हूँ। करुणा का अर्थ है मनुष्य–मनुष्य के बीच का प्रेम, मनुष्य को इससे भी आगे जाना चाहिए।"
दिनांक 13.6.1953 को वरली कैम्प, मुंबई में महिला मंडल के समक्ष भाषण के समय बाबासाहब ने कहा, "शिक्षा के साथ मनुष्य का शील भी सुधारना चाहिए। शील के बिना शिक्षा का मूल्य शून्य है। शील धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है।"

दुराचार पर नियंत्रण

"धर्म दुराचार पर नियंत्रण रखता है। यहां उदाहरण के लिये आपकी भाषा में ही एक कहानी सुनाता हूं। बैलगाड़ी में दो पहिए, दो बैल, गाड़ी और चलानेवाला व्यक्ति इत्यादि सब होता है। गाड़ी को स्नेहक लगाया जाता है। परन्तु पहियों में कील होगी तभी बैल गाड़ी खींचेगे। वैसे ही मनुष्य के पापी, दुराचारी व्यवहार में बंधन का अर्थ है धर्म। धर्म के बंधन के बिना कार्य टिक नहीं सकता।

उनका कहना था कि पद्दलितों के लिये तो धर्म अधिक आवश्यक है। "विश्व में धर्म की आवश्यकता का अनुभव प्रथमतः निचले स्तर के लोगो को ही हुआ। रोमन, इटालियन साम्राज्य में सर्वप्रथम गरीब लोगों ने ईसाई धर्म को स्वीकार किया।"

स्वतंत्रता रक्षण को प्राथमिकता

वस्तुतः सैंकड़ों वर्ष पद्दलित रहकर अब जागृत हो रहे समाज की स्वाभाविक प्रतिक्रिया जागृति, विद्रोह, प्रतिकार और आक्रमण के रूप में होती है। इससे देश की एकात्मता को तो ठेस पहुंचती ही है और सामान्य शांति एवं सुव्यवस्था भी भंग होती है। बाबासाहब के अनुयायियों में भी ऐसे लोग थे। परंतु बाबा उन्हें समझाते थे कि, "यह

आत्मघात का मार्ग है। कुछ लोग कहते हैं कि, दलित फेडरेशन विद्रोह नहीं करेगा। विद्रोह का अर्थ क्या है? विद्रोह की राजनीति हमें पचेगी क्या? हमने विद्रोह किया तो आपको कष्ट होगा। हम जेल में जाकर बैठ गये तो वे लोग आपको कष्ट देंगे। 'तुम अंबेडकर की क्या सहायता करते हो? देखते हैं तुम्हें' ऐसे कहकर तुम्हे कष्ट देंगे। उससे अच्छा है आप परिश्रम करो...। अपना मन निर्मल होना चाहिए, उससे आपस के मतभेद दूर होते हैं।"

दिनांक 11 जनवरी, 1950 को मुंबई में नरे पार्क में आयोजित सार्वजनिक सम्मान को स्वीकारते हुये उन्होंने उत्तर दिया, "आज की राजनीति में प्रवेश करने की मेरी इच्छा नहीं है। परन्तु कुछ बातें बताना आवश्यक लगता है।"

"पहले हमारी राजनीति शत्रुता के आधार पर चल रही थी। मेरी दृष्टि में अस्पृश्यवर्ग के नेता पहले थोड़ी संकुचित दृष्टि से देख रहे थे और उनका आचरण भी वैसा ही था। इस दोष के लिये मैं भी थोड़ा–बहुत उत्तरदायी था। किंतु राजनीति का यह रुख अब बदलना होगा।"

"अब हमें एक बात विधिवत् ध्यान में रखनी होगी कि हम अपने लोगों का, अपने समाज का जो हित देख रहे थे, वह तो निरंतर जारी रखना है। किंतु उसके साथ–साथ अपने देश को प्राप्त स्वतंत्रता किस तरह अक्षुण्ण रखना है, इसका भी विचार करना होगा। इस देश को स्वतंत्रता मिलने के बाद परतंत्रता में रहना पड़ा है। स्वतंत्रता की आवश्यकता जितनी उच्च वर्ग को है उतनी ही निचले वर्ग को भी है। अंग्रेजों की गुलामी से हम मुक्त हो गये हैं। किंतु अब फिर से परकीय गुलामी में रहने का प्रसंग हमारे ऊपर आया तो वह दुर्दैव होगा। इसलिये इस देश की स्वतंत्रता की रक्षा करना भी प्रत्येक व्यक्ति को अपना परम कर्तव्य समझना चाहिए।"

साम्यवाद का विरोध

साम्यवादियों की सफलता देखकर भारत के दलितों की आंखों में चकाचौंध की संभावना देखते हुए उनको बाबासाहब बताते हैं, "साम्यवाद की सफलता से पलभर भी फिसल मत जाना। मुझे पूरा विश्वास है कि भगवान बुद्ध को मिले हुये ज्ञान के प्रकाश का दसवां भाग भी यदि हमें प्राप्त हुआ तो वही परिणाम हम प्रेम, न्याय और सद्भावना के मार्ग से प्राप्त कर सकते हैं।"

पूजनीय बाबासाहब लोकतंत्र के प्रबल समर्थक थे। वे कहते थे, "जिस सरकारी पद्धति में लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन बिना किसी रक्तपात

से किया जाता है वही लोकतंत्र है।" साम्यवाद से उनका विरोध होने का यह भी एक कारण था। विशुद्ध भौतिकवाद से उनको चिढ़ थी।

भौतिक सुखों में डूबे हुये समाज एवं व्यक्ति से वह धीरे से कहते हैं कि "भौतिक सुख ही व्यक्ति का सब कुछ नहीं है, उससे मनुष्य के दुःखों का निवारण नहीं होगा। मनुष्य केवल रोटी पर नहीं जीवित रहता उसे सुसंस्कृति की आवश्यकता है।" मार्क्सवादियों से वह कहते हैं, "मनुष्य केवल रोटी पर नहीं जीवित रहता, उसके हृदय है। उस हृदय को विचारों का भोजन चाहिए। धर्म मनुष्य के हृदय में आशा उत्पन्न करता है। उससे वह अपने कार्य के प्रति प्रेरित होता है। दलितों के उत्साह पर हिन्दू धर्म ने पानी फेरा है। इसी वजह से धर्म–परिवर्तन की आवश्यकता मुझे अनुभव हुयी और मैंने बौद्ध–धर्म स्वीकार किया। बौद्ध–धर्म में काल और समय का बंधन नहीं है। वह किसी भी देश में समृद्धि प्राप्त सकता है। जिस देश के लोग मानसिक संस्कारों से अधिक स्वामित्व को महत्व देते हैं, उस देश से मैं संबंध नहीं रखूंगा। अगर हिन्दू धर्म ने दलित वर्ग को शस्त्र उठाने की स्वतंत्रता दी होती तो यह देश कभी भी परतन्त्र नहीं होता।"

सितम्बर, 1937 में उनकी अध्यक्षता में मैसूर में दलित वर्ग की जिला परिषद हुयी। उसमें भाषण देते हुये उन्होंने कहा, "मेरी कम्युनिस्टों से जाकर मिलने की तनिक सी भी संभावना नहीं है। अपने राजनैतिक स्वार्थ के लिये मजदूरों का शोषण करने वाले साम्यवादियों का मैं कट्टर शत्रु हूं।"

किताबी कम्युनिस्ट इस देश की नब्ज नहीं पहचान पाया। यह कहते हुये वह पूछते हैं, "भारत का मजदूर–वर्ग गरीब हुआ तो भी गरीब होने बावजूद भी अमीर और गरीब इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी अंतर नहीं मानता। क्या ऐसा कह सकते हैं? भारत के गरीब लोग जाति अथवा पंथ, उच्च और हीन ऐसा भेद बिल्कुल नहीं मानते क्या हम ऐसा कह सकते हैं? वर्ग भेद के अतिरिक्त अन्य भेद वह मानते हैं यदि ऐसी स्थिति है तो ऐसे श्रमजीवी–वर्ग को पूँजीपति–वर्ग के विरुद्ध संघर्ष में एक साथ मिलाकर कैसे खड़ा किया जायेगा? अगर श्रमजीवी वर्ग एक संगठन नहीं बना पाया तो क्रांति कैसे होगी?"[7]

बाबासाहब के तत्वज्ञान का मूलस्रोत धर्म में था। संवैधानिकता एवं लोकतंत्र उनका स्वभाव बन चुका था। भगवान बुद्ध, महात्मा कबीर और महात्मा ज्योतिबा फुले ये तीनों उनके गुरु थे।

[7]ॲनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृष्ठ 18

अकारण मिथ्याधारणा

डॉ. अम्बेडकर[8] के अनेक प्रचलित पहलुओं के प्रति अनेक मिथ्याधारणायें निराधार प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिये दो घटनाओं को उल्लेख करता हूं।

महाराष्ट्र में आगरकर[9] और दूसरे व्यक्तियों ने समाज को सुधारने पर पूरा बल दिया था और समाज–सुधार को राजनैतिक कार्य से अधिक महत्व दिया था। इसका अर्थ यह नहीं था कि उनकी स्वराज में रुचि नहीं थी। परन्तु यह न समझकर ऐसे सुधारों के प्रति कुछ समय मिथ्याधारणायें प्रचारित की गयी थीं। बाबासाहब के सन्दर्भ में भी यही कह सकते हैं।

डॉ. अम्बेडकर स्वराज के विरोधी थे ऐसा कहना गलत है। उनका स्पष्ट विचार था कि, "स्वराज के संविधान के अनुसार राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने की कुछ संभावना आपको है। सत्ता प्राप्त किये बिना अपने लोगों का उद्धार किया नहीं जा सकता। अधिक से अधिक अपने कल्याण के विषय में सोचो और मैं आपको आश्वस्त करता हूँ कि स्वराज ही अपना उद्देश्य है इस बात को आप स्वीकार करेंगे।"

स्वराज ही उनका ध्येय था परन्तु उस स्वराज में और स्वराज के संविधान में दलितों का क्या स्थान रहेगा इस प्रश्न को वो प्रथम स्थान देते थे।

समरसता पर बल

अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारंभिक समय में बाबासाहब ने समरसता पर बल दिया था। केवल उच्च वर्ग विरोधी द्वेषभावना से लाभ नहीं होगा, इस बात से वे पूर्णतः परिचित थे। आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्मसमाज, सत्यशोधक समाज, थियोसोफिकल सोसायटी आदि संस्थाओं के नेताओं और कार्यकर्ताओं द्वारा दलितों के उद्धार में किये हुए कार्यों से वे परिचित थे। उच्च जाति के सार्वजनिक नेताओं ने अस्पृश्यता हटाने के विषय में जो घोषणा की थी उसके विषय में भी वह जानते थे। इसी कारण से 20 जुलाई, 1924 के दिन मुम्बई में बहिष्कृत हितकारणी सभा की स्थापना करते समय उन्होंने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के स्थान पर चिमणलाल सेटलवाड, रंगलर परांजपे, श्री बालासाहब खेर आदि तथाकथित उच्चवर्णियों को रखा था। अन्य उच्च जातीय हिन्दुओं का भी समावेश उन्होंने इस संस्था में किया था। इस विषय में पूजनीय बाबासाहब ने यह स्पष्टीकरण दिया था कि "जिस वर्ग का सुधार करने हेतु

[8]मूल भाषण में 'पूजनीय बाबासाहब'

[9]गोपाल गणेश आगरकर (1856–1895) : मराठी समाचारपत्र 'केसरी' के प्रथम संपादक थे। अंग्रेजी समाचारपत्र 'मराठा' और बाद में 'सुधारक' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया।

संस्था की स्थापना की गयी है, उस वर्ग और इस तरह की परिस्थिति से व्यथित वर्गों के कार्यकर्ताओं को संस्था में बिना सम्मिलित किये संस्था के ध्येय का सफल होना सम्भव नहीं है। यही बाबासाहब की मूल भूमिका थी। परन्तु स्वयं को धर्म का ठेकेदार समझने वाले हठी लोगों के हठधर्मिता के कारण उन्हें बाद में दूसरी भूमिका स्वीकार करनी पड़ी।

धर्मांतरण के बीस–पच्चीस वर्ष पहले ही जब धर्मांतरण के विषय में चर्चा हो रही थी उसी समय डा. बाबासाहब ने सावरकर[10], डा. मुंजे[11], कुर्तकोटि शंकराचार्य आदि हिन्दुत्ववादी नेताओं के आग्रह के कारण धर्मांतरण के लिए सिख धर्म का चयन किया था। यदि इस्लाम और ईसाई धर्म को स्वीकार किया तो सब धर्मांतरित लोग राष्ट्र–विरोधी बन जायेंगे, यह उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था। हिन्दू सभा के नेताओं से उनके व्यक्तिगत संबंध अच्छे थे। परन्तु रूढ़िवादी समाज के ऊपर इन नेताओं की पकड़ नहीं है और जिनकी पकड़ है वो इन नेताओं जैसा दृष्टिकोण नहीं रखते, इस बात से बाबासाहब की शिकायत थी। उन्हें इस बात का बहुत दुःख होता था कि उच्च वर्णीय लोगों का हृदय परिवर्तन करने में हमें सफलता नहीं मिल रही है।

यह सच है कि रूढ़िवादी लोगों के हठी, दुराग्रही रवैये के कारण अन्तिम दिनों में बाबासाहब को प्रतिक्रियावादी भूमिका अपनानी पड़ी थी। परन्तु उनकी भूमिका मूलतः समन्वयवादी थी। स्पष्ट है कि यदि रूढ़िवादियों ने बाबासाहब को निराश नहीं किया होता तो, उनकी बुद्धि और क्षमता का अधिक रचनात्मक लाभ देश को प्राप्त हो सकता था।

सामाजिक समता की समस्या

भारतीय परिस्थिति में सामाजिक समता का प्रश्न बहुत जटिल और बहुमुखी हो गया है। इसकी गहरी अवधारणा न होने के कारण सतही राजनेता अपने दिखावटीपन और ऊपरी प्रचार के कारण समस्याओं को और जटिल बनाते जा रहे हैं। तथापि इस नयी परिस्थिति को देखकर जब कोई भी नया बुद्धिजीवी इस समस्या के विषय में चिंतन करने लगता है तब उसके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष पूजनीय डॉक्टरों के विचारों के अनुकूल होते हैं। हाल ही में प्रकाशित 'कंपीटिंग इक्वालिटीज'[12] पुस्तक में श्री मार्क गलेंटर ने भारत में हुये सामाजिक अन्याय और उसके विरुद्ध किये गये विद्रोह और

[10]विनायक दामोदर सावरकर
[11]डॉ. बी.एस. मुंजे मूलरूप से नागपुर के थे और वे हिन्दू महासभा के अध्यक्ष रह चुके हैं।
[12]Competing Equalities

संविधान में निर्दिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अब तक किये गये कानूनी प्रयत्नों का इतिहास और उसी विषय में उपस्थित हुये हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों का विवरण प्रस्तुत किया है।

पुस्तक के आरम्भ में ही गलेंटर कहते हैं, "भूतकाल से समाज के जो वर्ग शोषित रहे हैं उनको विशेष छूट उपलब्ध करवाने की जो भारतीय पद्धति तथा उसका व्यापक विस्तार है, वह अभूतपूर्व है। सुस्पष्ट, मूल्यात्मक और विस्तृत रूढ़िवादी विषमताओं की पृष्ठभूमि होने पर भी भारत ने समानता का प्रधान मूल्य स्वीकारा है। समाज के विभिन्न वर्गों में विषमता की भावना दूर करने हेतु भारत के संविधान का जन्म हुआ है। परिणामस्वरूप ऐसी योजनायें बनाई गयीं जिन्हें मैं मुजावजा देने वाली भेदभाव नीति मानता हूं। निचले तबकों के लोगों के प्रति उपेक्षा करने की राष्ट्रीय प्रवृत्ति को देखते हुये ऐसा कहना उचित होगा कि पिछले 30 वर्षों में मुआवजे की भेदभाव वाली नीति लगातार और उदार तरीके से लागू की जा रही है। परन्तु यह नीति सदैव कठोर और परिणामकारक सिद्ध हुई थी। हम सम्भवतः ऐसा नहीं कह सकते।"

एक विदेशी विद्वान भारत के इतनी जटिल आन्तरिक समस्याओं पर परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर रहा है यह बात बहुत प्रशंसनीय और सराहनीय है। इन प्रयासों के लिए भारतीय उसके आभारी हैं। परन्तु वे इस देश के जनता की नब्ज पता न होने के कारण और अश्वेतों (नीग्रो) के प्रयासों का इतिहास मन में होने के कारण इस प्रश्न की जड़ तक नहीं पहुंच सके। ऐसा होने पर भी पूरे अध्ययन के बाद जो निष्कर्ष उनके मन में आया वह भी सराहनीय है।

नौकरी, शिक्षा और सरकारी पद में आरक्षण के कारण जो देशव्यापी आंधी आई है उससे अदा करने की कीमत और परिणाम शून्यता की समस्या, कितनी गंभीर और बड़ी समस्या है इसकी कल्पना उत्पन्न होती है। संविधान, कानून, न्यायालय द्वारा सामाजिक न्याय और उसके पश्चात् सामाजिक समता की समस्या का हल नहीं हो सकता यह इस पुस्तक से स्पष्ट होता है।

हाल ही में और एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसका नाम 'इक्वालिटी एंड इनइक्वालिटी : थ्योरी एंड प्रैक्टिस'[13] है। इसका सम्पादन आंद्रे एटेले ने किया है। यह पुस्तक सुप्रसिद्ध बुद्धिजीवियों के लेखों का संग्रह है। जिसमें शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। केवल कानून और संविधान से समता सिद्ध होने वाली नहीं है यह बात इससे भी स्पष्ट होती है। इस

[13]Equality and Inequality: Theory and Practice by Andre Eeteill

पुस्तक का निष्कर्ष है कि कानून सार्वजनिक शिक्षा की कमियों की भरपाई नहीं कर सकता।

जो इस प्रश्न को निष्पक्ष और बौद्धिक दृष्टि से देखते हैं, ऐसे कुछ विद्वानों में से एक विद्वान की प्रतिक्रिया आप लोगों के समक्ष रखता हूँ। डा. शिवरामय्या कहते हैं, "बाधायें और भी बढ़ गई हैं क्योंकि मूलभूत प्रावधानों में मौलिक अधिकार और निदेशात्मक सिद्धांतों में आपस में विरोध और अंतर्विरोध है। यह अंतर्विरोध संसाधनों की कमी से उत्पन्न हुआ है। इसी कमी के कारण एक ओर कमजोर वर्गों के प्रति उत्तरदायित्वों की पूर्ति और दूसरी ओर उनमें गुणवत्तावृद्धि सरकार द्वारा संभव नहीं हो पा रही है। ऐसी स्थिति में निदेशात्मक सिद्धांत निर्धनों का केवल मजाक बना रहे हैं। जिनके पास काम नहीं है उनको काम का अधिकार कैसे मिलेगा? और निराधारों को कानून की मुफ्त सहायता के बिना न्याय कैसे मिलेगा? इसका उत्तर समझ से परे है।"

दूरगामी कार्ययोजना

इस चर्चा से यह स्पष्ट होने में कोई समस्या नहीं आनी चाहिए कि यह प्रश्न राजकीय विधियों से हल होने वाला नहीं है। वास्तविक परिस्थिति में अगर ऐसे सुझाव फलदायी लगते हैं लेकिन फिर भी समता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए वह पूरे नहीं हैं और पूरे भी नहीं पड़ेंगे। लक्ष्य की प्राप्ति के लिये गहरे मौलिक चिंतन और व्यवहारिक योजनाओं की आवश्यकता है। इनके अभाव से आपको मत तो प्राप्त होंगे लेकिन समस्यायें हल नहीं होंगी।

संवैधानिक मार्ग का अवलम्बन

मेरे भाषण में मैंने जो अनेक उदाहरण दिये हैं उससे आपको यह स्पष्ट होगा कि पूजनीय बाबासाहब का मन किस तरह से काम कर रहा था। एक विशिष्ट परिस्थिति में उन्होंने समता की उद्घोषणा की थी। यह जितना सच है उतना ही जैसे मैंने प्रारम्भ में कहा था अत्यंत उत्तेजक भी कि ऐसी स्थिति में भी जब उनके ऊपर शारीरिक आक्रमण हुये और ऐसे आक्रमणों का प्रत्युत्तर देने के लिए उनके अनुयायी कटिबद्ध थे एवं जिसके कारण से भीषण दंगा हो सकता था, उन्होंने समता की उद्घोषणा की। इन सब बातों के मध्य उनके मन में जो अन्तिम चित्र था वो संयुक्त भारत का था। उनके मन में अन्तिम चित्र सौ प्रतिशत देशभक्ति का ही था। उन्होंने उच्च जाति के लोगों को समझाने का प्रयास किया लेकिन उनके समझाने से ये लोग समझने वाले नहीं थे, जिसके कारण अन्त में उन्हें कुछ अन्य मार्ग अपनाने पड़े। धर्म और संवैधानिकता पर आधारित मार्ग ही उन्होंने चुने थे। उनका संतुलन देखकर उनके मन में कौन सा चित्र स्थित था यह हमें समझ में आयेगा।

ऐसी परिस्थितियों से अगर कोई समाधान निकालना है और अस्थायी रूप से मरहम–पट्टी करनी पड़े तथा राजनैतिक हल यदि निकालने पड़ें तो भी यह जानना आवश्यक है कि रोग क्या है? और इसके विषय में बाबासाहब की दवा क्या थी यह भी देखना आवश्यक है। उनकी भूमिका स्पष्ट थी कि उन्हें यहां पर वर्ग–संघर्ष उत्पन्न नहीं होने देना है। संपूर्ण समाज में एकता होनी चाहिए। इस प्रकार की एकता अगर उत्पन्न हुई तो दूसरी सब बातें सम्यक् रूप से बनी रह पायेंगी। यह भावना उन्होंने बार–बार व्यक्त की थी।

डॉक्टर हेडगेवार का सकारात्मक दृष्टिकोण

सत्य के दूसरे पक्ष पर अत्याधिक बल देकर दूसरे एक श्रेष्ठ व्यक्ति–डॉ. हेडगेवार जी ने काम किया था और दूसरी विधि से इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया। जाति भेद, वर्ग भेद और उससे उत्पन्न होने वाली समस्याओं के विषय में डॉक्टर साहब की कल्पना थी कि हमें यह सब नहीं चाहिए। परन्तु इन सबको समाप्त करने के लिए क्या मार्ग हैं? यह कि सबको बताओ कि यह खराब है और इसे छोड़ दीजिये। लेकिन मनोविज्ञान पर आधारित उनका यह मत था कि नकारात्मक दृष्टिकोण अनेक बार अनुत्पादक होता है। 'भेद भूल जाओ' यह एक दृष्टिकोण है और हम सब एक हैं यह दूसरा दृष्टिकोण है। दोनों में निहित बात एक ही है परंतु उनके महत्व में अन्तर है तथा प्रस्तुतीकरण में अन्तर एवं भेद है। यह भेद सब लोगों को विस्मृत कर देना चाहिए। भेद भूल जाओ, हम सब एक हैं ये दोनों दृष्टिकोण स्थूल रूप से भिन्न लगते हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों में अन्तर करने से उनकी भाषा संरचना भी परिवर्तित होती है जिसके कारण मनोविज्ञान में परिवर्तन होता है। सकारात्मक दृष्टिकोण को लेकर एक नया प्रयोग बिना किसी गाजे–बाजे के साथ डॉ. हेडगेवार जी ने प्रारम्भ किया। इसमें कहा गया है कि जाति नहीं है। हमने यह कहा कि 'हम सब हिन्दू एक हैं और हम अस्पृश्यता को स्वीकार नहीं करते हैं, कहां है अस्पृश्यता? हम सब हिन्दू हैं।' इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाकर डॉक्टर जी ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। डॉक्टर जी का दृष्टिकोण भगवान बुद्ध की उक्ति का स्मरण करवाता है।

अवधारणा में भेद

भिक्षु–संघ के भिक्षुओं से भगवान बुद्ध कहते हैं, "हे भिक्खू! आप भिन्न–भिन्न देशों और जातियों से आये हैं। हमारे यहां जो नदियां बहती हैं वे अलग–अलग हैं, परन्तु जब वे सागर से मिलती हैं तब वे पृथक्–पृथक् नहीं रहती अपितु एक हो जाती हैं। बौद्ध–संघ सागर की तरह है। इस संघ में सब एक जैसे और समान हैं। संघ भी ऐसे ही सागर के समान है। इस दृष्टि से सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं को देखने का उन दोनों का

अंतिम ध्येय एवं लक्ष्य एक ही है। परन्तु जिन परिस्थितियों में ये दोनों थे वे परिस्थितियां भिन्न–भिन्न थीं। इसी कारण उनकी समस्या–समाधान की अवधारणा में अन्तर है। एक ने किसी एक बात पर बल दिया तो दूसरे ने किसी अन्य बात पर बल दिया। परन्तु अंतिम लक्ष्य एवं भावना दोनों की एक ही थी। सन् 1934 में हमारे संघ का वर्धा शिविर पूज्य महात्मा जी के आश्रम के समीप आयोजित हुआ था। गांधी जी ने शिविर से भेंट करने की इच्छा व्यक्त की थी। माननीय अप्पाजी जोशी ने गांधी जी का स्वागत किया और महात्मा जी ने शिविर की पूरी व्यवस्था का निरीक्षण किया। इसके बाद उन्होंने पूछा "इस शिविर में कितने हरिजन हैं?" अप्पाजी जोशी ने कहा, "मुझे पता नहीं क्योंकि हम किसी की जाति नहीं पूछते।" गांधी जी ने कहा, "मुझे हरिजन लोगों की संख्या बताओ।" अप्पाजी जोशी ने कहा, "मैं ऐसा नहीं कर सकता, जब तक हमारा संबंध है, ये सब हिन्दू हैं और यह हमारे लिए पर्याप्त है।" महात्मा जी ने कहा, "तो फिर मैं क्या पूछूँ?" अप्पाजी जोशी ने कहा, "वह आपकी इच्छा पर निर्भर है।" गांधी जी ने अनेक स्वयंसेवकों से उनकी जाति पूछी, पूछताछ के बाद उनको ज्ञात हुआ कि हमारे शिविर में बहुत से हरिजन थे और वह सबके साथ काम कर रहे थे तथा साथ में भोजन भी कर रहे थे। दूसरे दिन पूजनीय डॉक्टर साहब उनसे मिलने गये। उस समय गांधी जी ने उनसे पूछा कि, "आपके संघ में आप अस्पृश्यता निवारण का प्रचार किस प्रकार करते हैं?" डॉक्टर जी ने कहा, "हम लोग अस्पृश्यता का पालन मत कीजिये यह प्रचार नहीं करते। हम कहते हैं कि हम सब हिन्दू एक कुटुम्ब ही तरह हैं जिसके कारण भेदभाव की भावना स्वयंसेवकों के मन से निकल जाती है।"

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की धारणा

राष्ट्रीय स्वयंसवेक संघ की यह सोच है कि संपूर्ण हिन्दू समाज एक कुटुम्ब की भांति है। हाल ही में श्री गुरुजी के एक वक्तव्य पर जानबूझकर मिथ्यावधारणा फैलाई जा रही थी। तृतीय सरसंघचालक बालासाहब देवरस ने पुणे की वसंत व्याख्यानमाला के मंच से जो भाषण दिया था उसके बाद ये मिथ्याधारणायें दूर हो गयीं। गुरुजी कहते थे कि उच्च–वर्णीय हृदय में जो क्षुद्रता घर कर रही है, उसी के कारण यह समस्या उत्पन्न हुई है। नव–जागृत अस्पृश्य वर्गों का क्रोधित होना स्वाभाविक है। परन्तु जब तक स्पृश्य लोगों के हृदय से अस्पृश्यता का भाव नहीं जाता तब तक इस समस्या का हल नहीं सम्भव होगा। इस प्रश्न का समाधान सकारात्मक पारिवारिक–भाव से ही हो सकता है। श्री गुरुजी कहते थे, "आज कोई भी वर्ण अस्तित्व में नहीं है, कोई भी जाति अस्तित्व में नहीं है, हम सभी का एक ही वर्ण और एक ही जाति हैं और वह वर्ण एवं जाति है हिन्दू।"

यह सच है कि अन्य समाज सुधारकों जैसा समाज–सुधार के प्रयत्नों का नेतृत्व पूजनीय डॉक्टर साहब और श्री गुरुजी ने अपने स्वभाव के कारण नहीं किया। यह उन दोनों का आग्रह था कि धर्माचार्य वह नेतृत्व स्वीकार करें। इसी उद्देश्य से सन् 1969 में श्री गुरुजी ने विश्व हिन्दू परिषद के सम्मेलन में एक ही मंच पर भिन्न–भिन्न और एक–दूसरे से न मिलने वाले धर्माचारियों को एकजुट किया। बाबासाहब अम्बेडकर कहते थे कि अगर किसी सामाजिक या धार्मिक समस्या के विषय में गोलवलकर और शंकराचार्य इन दोनों ने भिन्न–भिन्न निर्णय दिया तो सामान्य सनातनी उच्च हिन्दू किसका निर्णय स्वीकार करेंगे? निःसंदेह शंकराचार्य के निर्णय को। शंकराचार्यों को कौन मानता है? यह प्रश्न करने वालों से श्री गुरुजी शांति से कहते थे "शंकराचार्य को मैं या आप मानते हैं कि नहीं, यह प्रश्न नहीं है। जिन स्पृश्य लोगों को हम अस्पृश्यता को न मानने के लिये कहते हैं वे किसको मानते हैं यह वास्तविक प्रश्न है? वे लोग आपको भी नहीं मानते और मुझे भी नहीं मानते। वे शंकराचार्य को मानते हैं। अतः इन लोगों का हृदय परिवर्तन करना है तो धर्माचारियों द्वारा आदेशपूर्वक उनको समझाना ही सबसे अधिक फलदायी होगा।" इसी कारण से विश्व हिन्दू परिषद का कार्य सुधारकों की तरह नहीं है फिर भी अत्यधिक मूलभूत है। यह किसी भी बुद्धिजीवी और निष्पक्ष व्यक्ति को मानना पड़ेगा। इस प्रकार हेडगेवार जी के विषय में हमें सब ज्ञात है। डा. अम्बेडकर के मन में किस प्रकार की भावना थी यह कुछ उदाहरण देकर मैंने आपको बताया है। अब भारत स्वतंत्र हो गया है। इसलिए बार–बार आपस के जो भेद पहले जाति के कारण और अब राजनैतिक पक्षों के परस्पर मतभेदों के कारण हैं, इन सबकी मुझे चिन्ता है। इसी कारण हमें अपनी राष्ट्रीय एकता बनाये रखनी चाहिए, ये बात बाबासाहब ने अपने समापन भाषण कहा था। इनके हृदय की इस भावना के विषय में अगर हम विचारें तो एक भावना, एक लक्ष्य परन्तु अलग अवधारणाओं से यह पता चलता है कि इन दोनों श्रेष्ठ महापुरुषों का कार्य कैसा था? सामाजिक एकात्मता के बिना समता सम्भव नहीं है, बाबासाहब को इस बात का स्पष्ट ज्ञान था। हम सब भारतीय लोग एक–दूसरे के सहोदर हैं और हम सब भारतीय जनता भ्रातृभाव से एक हैं। यह भावना जब हृदय में होती है तो वह बन्धुत्व–भावना के नाम से जानी जाती है। सामाजिक जीवन में एकता की अमृत–वर्षा यदि कोई कर रहा है तो वह बन्धुभाव है। इस सिद्धांत को अपनी दिनचर्या में लाना कठिन कार्य है। भारत में अनेक जातियां हैं। ये जातियां देश विरोधी हैं। इसका पहला कारण यह है कि जाति समाज–जीवन को तोड़ती है। दूसरा कारण यह है जाति अपने आप में तिरस्कार उत्पन्न करती है। यदि हमारी सच्चे अर्थों में 'राष्ट्र' बनने की इच्छा है तो इन सब बाधाओं को हमारे मार्ग से दूर हटाना चाहिए। क्योंकि जहां पर राष्ट्र है वहीं पर बन्धुत्व–भाव उत्पन्न हो सकता है। बन्धुत्व–भाव अस्तित्व में नहीं होगा तो समता और स्वातंत्र्य के अस्तित्व का क्या अर्थ

रहेगा?" बाबासाहब को हिन्दू समाज की आंतरिक एकात्मता और उसमें निहित दरारों की पूर्ण जानकारी थी। जिसके कारण उनका हृदय बहुत दुःखी होता था। उनकी तीव्र इच्छा थी कि सामाजिक एकात्मता पुनः स्थापित हो उन्होंने सामाजिक एकात्मता की व्याख्या और उसका वर्णन इस प्रकार किया है, "सामाजिक एकात्मता के लिए किसी भी कार्य में सबका सम्मिलित होना आवश्यक है। क्योंकि इससे कार्य करने की भावना का स्पन्दन हर व्यक्ति तक जाता है। व्यक्ति यह समझने लगता है कि मैं इस कार्य हिस्सा हूं। वह कार्य की सफलता और असफलता का अनुभव प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्ति को परस्पर बांधे रखने वाली सबसे बड़ी बात है। इससे ही समाज खड़ा हो पाता है। जाति व्यवस्था के कारण समान कार्यों में सभी लोगों के सम्मिलित होने में व्यवधान आया है। परिणामस्वरूप हिन्दू लोग एकात्म–जीवन और अस्मिता के प्रति अचेत रहे और कभी एकजुट नहीं हुये।"

आदरणीय बाबासाहब के मन में हिन्दू समाज के प्रति जो तीव्र उत्कण्ठा थी वह आदरणीय डा. हेडगेवार की तीव्र उत्कण्ठा से भिन्न थी यह कहना बौद्धिक प्रमाणविहीनता का लक्षण होगा।

समरसता से समता

आदरणीय डॉक्टर जी की विशेषता समरसता, आदरणीय बाबासाहब की विशेषता समता पर बात होनी ही चाहिए। समता समरसता के बिना नहीं रह सकती। मानवजाति की जो मानसिकता या मनोविज्ञान है, उसमें अगर समरसता नहीं है तो समरसता के अभाव से विषमता का निर्माण होना ही है। पूरे समाज के प्रति समरसता नहीं है तो सबल को निर्बल का, धनी को गरीबों का शोषण क्यों नहीं करना चाहिए? इसका कोई समर्थन या औचित्य नहीं है। मेरे पास अन्य लोगों का शोषण करने की क्षमता होने पर भी मैं किसी का शोषण न करते हुए, अपने कर्तृत्व–शक्ति का उपयोग दूसरों के हित के लिए करूँगा। यह भाव केवल सामाजिक समरसता से ही उत्पन्न हो सकता है। इस बात की वास्तविक प्रतिभूति (गारंटी) यदि कुछ है तो वह समरसता ही है। पारिवारिक भावना ऐसी भावना है जिसमें पूरा समाज एक परिवार है। इसी तरह समाज के प्रति समरसता हो तो इससे समता की भावना का स्वाभाविक उदय हो सकता है। यद्यपि विषमता को छोड़ कर समता–निर्माण होना सही है। किन्तु समता ही अंतिम लक्ष्य नहीं हो सकता, यह बीच का पड़ाव है। अन्तिम लक्ष्य समरसता है।

समरसता ही बन्धुत्व है

"मेरी तत्त्वज्ञान का मूल धर्म में है। राजनीति शास्त्र में नहीं। मेरे गुरु बुद्ध के विचार और

ज्ञान से मैं यह प्राप्त कर सका हूं। मेरे तत्त्वज्ञान में स्वातंत्र्य और समता का स्थान है। किन्तु अपरिमित स्वतंत्रता से समता का विनाश होता है। निर्भीक समानता स्वतंत्रता को स्थान नहीं देती। मेरी दृष्टि में स्वतंत्रता और समता का उल्लंघन नहीं होना चाहिये, इसीलिए केवल निर्बाध संरक्षण के लिये स्थान है। मेरे तत्त्वज्ञान में बन्धुत्व की भावना का सबसे उच्च स्थान है। स्वतंत्रता और समता के विरोध में संरक्षण केवल बन्धुत्व–भावना से होता है। इसका दूसरा नाम बंधुता अथवा मानवता है और मानवता ही धर्म का दूसरा नाम है। इसी भाईचारा, इसी बन्धुत्वभावना का ही दूसरा नाम सामाजिक समरसता है। यही मानवता है, यही धर्म है। भगवान बुद्ध की मैत्री और करुणा से समरसता का परिपोषण होता है। इसी से समता का निर्माण और विकास होता है। जिन प्रगतिवादी, उदारतावादी, परिवर्तनवादी और क्रांतिकारी लोगों का मानना है कि समता ही अंतिम लक्ष्य या गंतव्य स्थान है। उन लोगों को मैं चुनौती देकर कहता हूं कि दुनिया के इतिहास में ऐसा एक उदाहरण दिखाइये जिसने मात्र समता के आग्रह से समता का निर्माण या स्थापना की है। हर क्रांति के समय ऐसा अनुभव हुआ है कि जो शोषित या पीड़ित हैं, उन्होंने विद्रोह शोषकों के विरोध में किया है। यह बात सही है किन्तु एक महान आलोचक श्री फ्रायर का कहना है कि 'जब–जब शोषित वर्ग शोषक वर्ग के विरोध में विद्रोह करता है तब क्रांति को नेतृत्व देने वाले नेताओं में दो प्रकार के नेता होते हैं।' दोनों प्रकार के नेता कैसे होते हैं? उन्होंने ऐसा कहा कि, शोषक वर्ग के विरुद्ध घृणा तो सामान्य बात है। परन्तु इस शोषक वर्ग के विरोध में घृणा का निर्माण करने वालो में दो प्रकार के लोग होते हैं। शोषक वर्ग नहीं होना चाहिये जिनको ऐसा लगता है, उनका भी जीवन–मूल्य इन शोषक वर्गों के नेताओं जैसा है। उनकी भावना है कि यह शोषक वर्ग हमें नहीं चाहिए, उनको निकालकर बाहर फेंकना चाहिए और उनके स्थान पर हमें आना चाहिए। परन्तु जीवन के प्रति उनकी निष्ठा और जीवन–मूल्य तो शोषक वर्गों का ही है। तब वे यह कहते हैं कि क्रांति हो सकती है और यही क्रांति सफल हो सकती है। इससे शोषक वर्ग का अंत हो सकता है। शोषित वर्ग के नेता सत्ता में आ सकते हैं। परन्तु उनका जीवन–मूल्य वही है जो शोषक वर्ग का होता है। तब यही नये नेता सत्ता में आने के बाद दोनों दृष्टियों से उसी प्रकार व्यवहार करते हैं जैसा व्यवहार पहले के शोषक वर्गों द्वारा किया जाता था। इससे जनता की स्थिति 'जैसे सांपनाथ वैसे नागनाथ' जैसी ही रहती है।

माओ का सिद्धांत

परन्तु दूसरा एक वर्ग ऐसा हो सकता है। जिसका जीवन–मूल्य भिन्न होता है। शोषक वर्ग को हटाना है। क्रांति और परिवर्तन लाना है। परन्तु ये जो क्रांति करवाना चाहते हैं

वह भिन्न जीवन–मूल्यों के लिए है। इसीलिए इनके हाथों में सत्ता आने से ये लोग मात्र सत्ता के लालच से ग्रसित न होते हुए नये तरीके से समाज की स्थापना करते हैं। ऐसा एक वर्ग हो सकता है परन्तु फ्रायर ने यह कहा है कि– "अब तक सारी भिन्न–भिन्न क्रांतियों से यही अनुभव मिलता है कि शोषक वर्ग के प्रति पृथक् जीवन–मूल्य, जीवन के प्रति अलग निष्ठा रखने वाले इस प्रकार क्रांतिकारियों के नेता अपवादस्वरूप या असाधरण होते हैं। शोषक वर्ग की जीवन के प्रति निष्ठा का पोषण करने वाले नेता होते हैं और उससे क्रांति करके एक शोषक वर्ग को हटा कर नये शोषण की प्रक्रिया को नये नेतृत्व में शुरू किया जाता है और फिर से क्रांति की आवश्यकता उत्पन्न होती है। यही बात माओत्से तुंग जैसे विचारकों ने कही है।" उन्होंने कहा कि 'सन् 1949 में हमारे यहां क्रांति हुई थी, क्रांतिकारी लोगों के हाथ में शासन प्रणाली की बागडोर दी गई, परन्तु शासन–प्रणाली देने के बाद हमें यह ज्ञात हुआ है कि कल के क्रांतिकारी आज के प्रति–क्रांतिकारी (विरोधी) बन गए। उन क्रांतिकारियों को हटाने के लिए फिर से सांस्कृतिक क्रांति करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इस बात की सफाई उन्होंने सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात करते समय दी है। परन्तु स्वयं ईमानदार होने के कारण उन्होंने एक अन्य स्थान पर कहा कि फिर से एक बार क्रांति करके और पुराना क्रांतिकारी नेतृत्व बदलने से यह काम नहीं होगा। क्योंकि ये नये नेता फिर से शासन में सम्मिलित हो जायेंगे और फिर से प्रति–क्रांतिकारी बन जायेंगे, उनको हटाने के लिए फिर से पुनः क्रांति करनी पड़ेगी।

समस्या का समाधान

जब–जब जिस–जिस समय इस तरह के शोषक बनाम शोषित नवजागृत समाज में विद्रोह, प्रतिक्रिया या प्रतिकार निर्माण होता है, तब ध्यान देने योग्य है कि इसमें मात्र मन के आवेश, मन में घृणा अनियंत्रित होने से कई स्थानों पर तोड़–फोड़, बदले की भावना आदि बातें साधारणतः लोगों तथा शोषित वर्ग के मन में आ सकती हैं। इस सब से पूरे समाज को साथ लेकर चलने के लिये कोई नया मार्ग नहीं मिल सकता। दलितों का भी इससे कल्याण नहीं हो सकता। क्योंकि क्रांति का नेतृत्व करने वाले जो दलित नेता होंगे वे स्वयं सफलता के बाद शोषक वर्ग में बदल जाते हैं। यह हर क्रांति का अनुभव है। नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं है। एक बार जिन्होंने प्रतिष्ठित वर्ग और वर्ण के विरुद्ध विद्रोह किया था, विद्रोह का नेतृत्व जिन्होंने किया था, वही आज प्रतिष्ठा प्राप्त करने के बाद अपने ही लोगों के खिलाफ विद्रोह करने के लिए खड़े हो रहे हैं। ऐसा भारत के अलग–अलग प्रदेशों में हमें दिखाई देता है। विद्रोह करना स्वाभाविक होने के बावजूद इससे समस्या का निराकरण नहीं हो सकता है। अगर समस्या का सच में हल निकालना है तो दो प्रकार की अप्रिय बातें स्वीकारनी पड़ेगी, ऐसे निहित

स्वार्थी, रुचिहीन व्यक्ति जिनके हाथ से नयी क्रांति के कारण अधिकार जाने वाले हैं, उन सभी की नाराजगी स्वीकार करके, और जो शोषित होने से, आवेग में आकर अतिवादी बनकर स्थिति में बदलाव चाहते है, उन लोगों की भी नाराजगी स्वीकार करके संवैधानिक विधि से, सन्तुलित रहकर शोषित वर्ग का नेतृत्व करने की आवश्यकता है। ऐसा करते समय यह भाव होना चाहिये कि शोषक हों या शोषित हों, हम सब एक ही समाज के अंग हैं। जिस तरह से पूरा परिवार मिलकर एक एक ईकाई बनाता है। संपूर्ण समाज को एक परिवार मानकर उस परिवार में सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से जो कमजोर लोग हैं उनकी चिंता करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होनी चाहिए। इस विषय में महात्मा फुले द्वारा बताया गया मार्ग मननीय है। "इस (समाजरूपी) बलि–स्थल के अंदर समस्त शूद्रातिशूद्र, भील, कोली आदि सभी लोग जब विद्वान होकर विचार करने योग्य हो जायेंगे तब भी इन सबको समान धरातल पर लाये बिना बिना 'नेशन' नहीं बन सकता है।"

यह बात भिन्न तरीके से बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें से एकमयता को ही हम सामाजिक समरसता के नाम से अभिहित करते हैं।

हिन्दू समाज में अछूत–सवर्ण का विभाजन अमेरिका के काले–गोरे और प्राचीन यूनान के दास–नागरिकों के विभाजन के समकक्ष और समतुल्य नहीं है। ऐतिहासिक काल के विभिन्न घटनाक्रम दुर्भाग्यपूर्ण हैं, क्योंकि यह सत्य है कि ये सब एक ही राष्ट्र के अविभाज्य अवयव हैं। ज्योतिबा की बातों का वीभत्स और भयानक सत्य सबको विचार प्रवर्तक लगता है। वे कहते हैं कि, "भारत में जब अलग–अलग समाज है, यहाँ पर एक दूसरे के साथ रहने की कोई संकल्पना नहीं है, तब यहाँ पर कैसी राष्ट्रीयता होगी?" इससे यह ज्ञात होता है कि राष्ट्रवादी और राष्ट्र–निर्माता समूह को सामाजिक उत्तरदायित्व का स्पष्ट बोध होता है। 'अलग–अलग समाज' का अंत करके एक दूसरे के साथ मिल–जुल कर रहने का संकल्प सबके मन में दृढ़ करने का नाम ही सामाजिक समरसता है और इसके बल पर सामाजिक विषमता को दूर करके सुदृढ़ विशुद्ध राष्ट्रीयता को जागृत करना संभव होगा।

परस्पर संपर्क द्वारा परिवर्तन

समता का आग्रह करके समता को स्थिर करने से यदि सच में किसी को हानि होगी तो वह सामाजिक समरसता को ही होगी। इस प्रकार के विचार के साथ 'आर्टिकल ऑफ फेथ' 'सामाजिक समरसता मंच' नामक यह मंच पिछले वर्ष स्थापित किया गया है। आज प्रथम स्थापना दिवस होने के कारण यह पहली सभा हो रही है। इस सामाजिक समरसता मंच की स्थापना कोई महान कार्य करने के लिये नहीं की गयी है। क्योंकि

जब–जब कोई महान कार्य की घोषणा करता है तब–तब उसके सन्दर्भ में हमारे मन में संदेह–निर्माण होता है। फिर भी धीमी गति से, शांतिप्रिय मार्ग से, हमारी तरह आपकी जो संपर्क की पद्धति है उस पद्धति को लेकर छोटा उपक्रम करते हुए एक नई जागृति लाने में थोड़ा समय तो लगता ही है। केवल लोगों की भावनाओं को भड़काकर मतों को प्राप्त करने के लिए कि वो अछूत हैं या सवर्ण हैं, तथाकथित उच्चवर्णीय हैं या निम्नवर्णीय हैं, इस मंच की स्थापना नहीं हुई है। यह सस्ती लोकप्रियता का रास्ता अपनाकर अतिवादी बनकर गाली–गलौज करना है। हमें मतों की कोई आवश्यकता नहीं है और इसलिए गाली–गलौच करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इस समस्या का हल निकालना है तो शांतिप्रिय, आयुर्वेदिक विधि से निकालना चाहिए।

हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अगर सही मार्ग है तो अपनी गति को बढ़ाने के लिए प्रयास करना चाहिए। यह जो सभी प्रयास हो रहे हैं, यह इस बात का परिणाम है। यह कार्य सम्पन्न होने में थोड़ा समय लगेगा। उदाहरणार्थ जिन लोगों के विषय में (जनता की) अब तक यह धारणा थी कि अपने धार्मिक संस्थाओं में रुचि के कारण वे सुधारक नहीं हो सकते हैं, उन लोगों ने भी परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए जो कुछ निर्णय लिया है, उसके विषय में अगर सोचे तो (पूजनीय डॉक्टर जी का प्रयास हो या महामानव बाबासाहब का प्रयास) सभी प्रयासों का संकलित प्रभाव निश्चित रूप से होता दिखायी दे रहा है। यह प्रभाव शीघ्र दिखाई नहीं देता परन्तु प्रभाव पड़ता है, हमें पता चलता है। किस तरह से यह परिणाम होता है, इसका एक छोटा सा उदाहरण देता हूं। पिछले सप्ताह में 7–8[14] तारीख को विश्व हिन्दू परिषद की और से जो धर्म–संसद हुई उसका पांचवा सूत्र है–"समाज में श्रम के प्रति प्रतिष्ठा का भाव जागृत करते हुए उपेक्षित एवं पिछड़े हुए बंधुओं को समता एवं एकात्मता की अनुभूति कराना" यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि इसमें, 'समता और एकात्मता' ये दो शब्द आये हैं और उन्होंने दूसरे सूत्र में ऐसा कहा कि, "समाज का दुर्बल वर्ग कहीं भी अस्पृश्य एवं घृणा की दृष्टि से प्रसारित किया जाता है तो उसका पूर्ण परिमार्जन करते हुए सब के बीच सौहार्द्र पैदा करने की दृष्टि से पदयात्रा के आयोजन से कृतार्थ करें यह धर्माचार्यों से प्रार्थना है।" आपको सिर्फ नमूना पढ़कर दिखा रहा हूं। जिन उतावले लोगों को इसमें निराशा लगती है उन्हें किसी प्रकार की जल्दबाजी न करते हुए सभी कार्यों के परिणाम होते हैं, इस दृष्टि से सोचना चाहिये। धीर–धीरे गति बढ़ाओ यह आदरणीय गुरुजी का हमारे लिए संदेश है।

[14] 7–8 अप्रैल, 1983

मानवतावाद का आधार – समरसता

सामाजिक समता एवं सामाजिक समरसता के परस्पर संबंध के विषय इतना सारा परिश्रम पर्याप्त है। अब तक की हमारी सभी बातों का निष्कर्ष यह है कि हम सामाजिक समरसता को अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। समता मार्ग में मिलने वाला एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। केवल समता ही अंतिम गंतव्य नहीं हो सकती क्योंकि मात्र समता के प्रतिपादन में समता की स्थापना और उसको विकसित करने का आश्वासन नहीं हो सकता। सामाजिक समरसता स्थापित होती है तो सामाजिक समता स्वतः स्थापित हो जाती है।

पूर्व में जैसा मैंने बताया कि यद्यपि भिन्न–भिन्न स्थान से होने पर भी वास्तविक दिशा और मार्ग एक ही है। समता और समरसता दोनों के समर्थक एक ही पथ के पथिक हैं। असीमित समता की भाषा बोलने वालों के अंतर्मन में सामाजिक समरसता स्वयं स्पष्ट न समझते हुए उसके विचारों में वास करती है और सामाजिक समरसता के ऊपर पूर्ण आग्रह रखने वालों के मन सामाजिक समता अध्याहृत होती है। अन्तर यह है कि यह कैसे प्रतिपादित किया जाय। कुछ समतावादी जिसको सामाजिक अभिसरण कहते हैं, उसका ही आत्यन्तिक, व्यवहारिक और प्रयोजनकमूलक उपयोग सामाजिक समरसता स्थापित करने की ओर होता है। सामाजिक समता की ओर जाने का अप्रत्यक्ष प्रकार सामाजिक समरसता के प्रभाव से ही बनता है। आज के शुभ और मंगलमय अवसर पर इन दो तथ्यों पर विचार समान–पद्धति से करना ही बाबासाहब और आदरणीय डा. हेडगेवार को श्रद्धांजलि अर्पण करने का उपयुक्त मार्ग है। इस समय मैं यहाँ उपस्थित हूं, यही मेरे लिए परम् सौभाग्य की बात है। वास्तविक रूप से इस समय ऐसा कहकर मैं अपनी ओर से श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हूं।" किन्तु महान मानव को समझने और श्रद्धांजलि अर्पित करने में जो योग्यता, जो ऊंचाई होनी चाहिए वो मेरे पास नहीं है, इस बात का मुझे पूरा भान है। इसीलिए अपने विचारों के अनुसार मैं स्वयं अनधिकृत प्रयास न करते हुए हिन्दू राष्ट्र के प्रति एक दृष्टि से आदरणीय बाबासाहब के पचासवें जन्मदिन के शुभ अवसर पर भेजा हुआ यह संदेश और हिन्दू राष्ट्र की दूसरी दृष्टि से उनको अर्पित की हुई श्रद्धांजलि यहां पर प्रस्तुत करने के बाद अपना अभिभाषण समाप्त करता हूं।

डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि

अपने संदेश में स्व. वीर सावरकर कहते हैं–अम्बेडकर के व्यक्तित्व, उनकी विद्वता उनकी संगठन कुशलता और नेतृत्व करने का सामर्थ्य आदि विशेषताओं को मिलाने के बाद वे देश के सबसे बड़े महान व्यक्तियों में गिने जाने लगे हैं। अस्पृश्यता–उन्मूलन में और लाखों अछूत वर्ग के लोगों में मजबूत आत्मविश्वास एवं चैतन्य–निर्माण में उन्होंने

सफलता पाई है। उन्होंने भारत को बहुमूल्य सेवा प्रदान करने का कार्य किया है। उनके कार्य चिरस्थायी हैं। उनके हृदय में देश के प्रति अभिमान है और वे मानवतावाद के प्रमुख प्रचारक हैं। अम्बेडकर जैसे महान व्यक्तित्व के तथाकथित अछूत और दलित जाति में जन्म लेने एवं अछूत लोगों के हृदयों से निराशा को समाप्त करने और तथाकथित सवर्ण और छूत के अधिराज्य और वर्चस्व को चुनौती देने की स्फूर्ति उनके जीवन से मिलती है। अम्बेडकर के व्यक्तित्व और कार्य के प्रति मैं उनका आदर करते हुए उनके आयु—आरोग्य और महान कार्य के लिए जीवनभर चिंतन करता हूं।

सन् 1962 में डा. अम्बेडकर के अनुयायियों द्वारा उनके 71वें जयंती के अवसर पर निकाले गये 'गौरव विशेषांक' हेतु श्री गुरु जी ने लघु परन्तु मार्मिक लेख लिखकर भेजा था। इसमें श्री गुरु जी लिखते हैं— "वंदनीय डा. अम्बेडकर के पावन स्मृति को अभिवादन करना मेरा स्वाभाविक कर्तव्य है। भारत के दिव्य संदेश की गर्जना से जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व को दोलायमान किया, ऐसे श्री स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि दीन, दुर्बल, दरिद्र, अज्ञान और निरक्षरता से पीड़ित भारतवासी ही मेरे ईश्वर हैं, उनकी सेवा करना और उनके जीवन में सुप्त चैतन्य को जगाकर, उनका संपूर्ण जीवन सुखमय और प्रगतिशील बनाना ही ईश्वर सेवा है। उन्होंने अपने समाज में से 'छू न लेना और स्पर्श मत करना' इस अनिष्ट प्रवृत्ति को जानकर, उस प्रवृत्ति के विरुद्ध एवं तत्सम्बन्धी सभी रूढ़ियों पर जोरदार प्रहार किया। सम्पूर्ण समाज की पुनर्रचना हेतु सबका आह्वान् किया। इसी आह्वान् का प्रत्यक्ष पुरस्कार भिन्न शब्दों में, भिन्न मार्ग से, राजनैतिक एवं सामाजिक उत्पीड़न से क्षुब्ध होकर डा. बाबासाहब अम्बेडकर ने वेग के साथ किया है। अज्ञानी, दुःख से पीड़ित और अपमानित हमारे समाज के एक बड़े एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग को आत्मसम्मानपूर्वक खड़ा किया यही उनका असाधरण कार्य है। हमारे राष्ट्र पर उन्होंने अपार उपकार किया है। वे इतने महान थे कि उनके ऋण से उऋण होना समाज के लिये बहुत ही कठिन है।

श्रीमान् स्वामी विवेकानंद ने श्रीमान् शंकराचार्य के कुशाग्र बुद्धि और भगवान बुद्ध के परम् करुणामय विशाल हृदय को मिलाकर सही दिशा में भारत का विकास होगा इस विषय में मार्गदर्शन किया है। बौद्ध धर्म के विचारों को स्वीकार कर और उसे आगे बढ़ाकर उन्होंने मार्गदर्शन कर बहुत ही महत्वपूर्ण भाग पूरा किया और विषय को समापन की ओर ले जाने के कार्य में डॉ. अम्बेडकर को बहुत बड़ी प्रेरणा दी है। उनके विवेचक एवं कुशल बुद्धिमता को दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध विचारों में न्यूनता की कल्पना दिखाई देती थी और उसका उन्होंने उल्लेख किया है। व्यवहार की समानता, शुचिता एवं आपसी संबंध, करुणामय अपनापन आदि सभी विशेषताओं से मिलने वाली मानव सेवा की विशुद्ध प्रेरणा, बौद्ध मतों में श्रद्धा—निर्माण से होने वाला लाभ राष्ट्र एवं मानव

के विकास एवं वृद्धि के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। यह जानकर ऐसा दिखाई देता है कि उन्होंने बहुत ही आग्रह से इन मतों को आगे बढ़ाया। पूर्व में समाज–सुधार हेतु और धर्म के विशिष्ट–स्वरूप के स्थापन हेतु भगवान् बुद्ध ने तत्कालीन समाज की धारणाओं की कड़ी आलोचना की है। यह आलोचना समाज से अलग होने के लिए नहीं की गयी। वर्तमान समय में डा. बाबासाहब अम्बेडकर ने भी समाज की अच्छाई, धर्म के हित के लिए अपना चिरंजीवी समाज निर्दोष एवं शुद्ध होना चाहिए इस दृष्टि से कार्य किया है। इसीलिए, इस युग के भगवान बुद्ध के उत्तराधिकारी होने की वजह से मैं उनके पवित्र एवं पावन स्मृति का हार्दिक अभिवादन करता हूं।"

परिशिष्ट

वस्तुतः भारत के दलित समाज और अमेरिका के नीग्रो समाज, इन दोनों की तुलना नहीं हो सकती है। भारत का तथाकथित दलित वर्ग हमारे ही रक्त–अस्थिमज्जा का भाग है। यह स्थिति अमेरिका में नहीं है। इसीलिए यहाँ अमेरिका का उदाहरण पूर्णरूपेण लागू नहीं होता है। वहां के नीग्रो समाज के संघर्ष से, राजनीति से, मानसिकता से बहुत सारा सीखने योग्य है। यह मात्र उदाहरण के रूप में देखने योग्य है परन्तु पूर्णरूपेण अनुकरणीय नहीं है। इस दृष्टि से पिछलें दशक में प्रकाशित हुयी स्टर्लिंग टकर की 'फॉर ब्लैक वोन्ली'[15] पुस्तक पठनीय है।

प्रारंभिक परिचयात्मक भाग में पुस्तक के प्रकाशक लिखते हैं, "अमेरिका में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया चलती आ रही है। काले और गोरे (उग्रवादी या परिवर्तनवादी सरकार को गिराने का, विकृत, नस्लवादी लगने वाले समाज का अंत करने का आह्वान कर रहे हैं। उनका यह आह्वान् हिंसा भरा है। इसके प्रतिक्रिया में मुंह मांगी कीमत देकर भी शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित होनी चाहिए यह कहने वालों की आवाज होती है। इन लोगों की माँग होती है कि और कानून बनाओ, पुलिस एवं नेशनल गार्ड फोर्स का पूरा उपयोग करने दो। यह आवाज हिंसा की ही आवाज होती है।) "अधिकतर आंतकवादियों की आवाज ही सुनने में आती है और व्यक्ति को लगता है कि इनमें से किसी को तो चुनना चाहिए।"

सन् 1963 के 'मार्च ऑन वॉशिंग्टन' के लिंकन मेमोरियल भाषण में जॉन लुई कहते हैं–

"नागरिक अधिकार कानून अपर्याप्त है और इसे लाने में बहुत विलम्ब हुआ है। पुलिस के अत्याचारों से हमारी जनता को सुरक्षित रखने के लिए एक भी बात इस कानून में नहीं है। न्यायालय कोई कार्यवाही करेगा हम इसकी प्रतीक्षा नहीं करेंगे, क्योंकि सैंकड़ो वर्ष हमने प्रतीक्षा में बिताये हैं। राष्ट्राध्यक्ष, न्याय–विभाग, कांग्रेस इनमें से किसी को भी हम रोक नहीं पायेंगे। हम अपने हाथ में सूत्र लेकर राष्ट्रीय सीमा के बाहर सत्ता केन्द्र का निर्माण करेंगे। क्रांति हमारे दहलीज पर आ गई है...काला–जनसमुदाय आगे बढ़ रहा है। हम अपनी दग्धभू नीति व्यवहार में लायेंगे, और उनको अहिंसापूर्वक उनकी जगह दिखायेंगे। हम कार्य करेगे, पिछले कई महीने अच्छे दिखायी दिये।"

सन् 1964 में नीग्रो आंदोलन का दूसरा एक नेता बेयर्ड रस्तीन कहता हैः

[15]For Black Only by Sterling Tucker

"नीग्रो समुदाय मार्टिन लूथर के अहिंसावादी नीति को ज्यादा समय तक स्वीकार नहीं करेगा। कोई भी नीग्रो नेता यदि वह कहना भी चाहता है तो भी यह नहीं कह सकता कि 'तुम गोरों से प्यार करो'। मैं आगे ऐसा कभी नहीं करूंगा क्योंकि मैं मानसिक बेईमानी को अब और नहीं प्रोत्साहित करना चाहता। वे उनसे प्रेम नहीं करते। उन्हें उनसे प्रेम करने की आवश्यकता नहीं है। और इसका कोई आधार नहीं है कि वे उनसे प्रेम कर सकें। कौन ऐसे व्यक्ति से प्रेम कर सकता है जो लोगों के लिये ऐसा करता है?"

जिस अमेरिका में अब्राहम लिंकन, बुकर टी वॉशिंग्टन और मार्टिन लूथर किंग जैसे महान व्यक्ति हुए वहीं पर दोनों ओर से आतंकवादी नेतृत्व में नस्लवाद इतना प्रबल एवं शक्तिशाली हुआ कि कुछ समय के लिये दोनों पक्षों को समझाने की स्थिति ठप हो गयी थी। स्थिति हाथ के बाहर निकल गई थी और मनःस्थिति लंबे उग्रवाद के शीर्ष पर पहुंची गयी थी। ऐसी अवस्था में भी नीग्रो समाज के कई विवेकशील नेताओं ने अपना संतुलन कायम रखा, यह बहुत ही आश्चर्य की बात है। इन नेताओं में से एक श्री स्टर्लिंग टकर, जिन के द्वारा प्रस्तुत भूमिकाओं में उनके परिचायक उद्‌गार प्रकट होते हैं।

स्टर्लिंग टकर इस पर विश्वास करते हैं कि ज्ञान और वास्तविकता की समझ एकमात्र मार्ग है। उनका यह भी मानना है कि परिवर्तन करने की परिणामकारक व्यवस्था के रूप से यह मार्ग सीधे तौर पर उपलब्ध होता है। टकर ने प्रारम्भिक मानवाधिकार आन्दोलन एवं उसे मिले असफलता के कारणों का भी उल्लेख किया है। 'अश्वेतवर्णीय की शक्ति' शब्द का प्रयोग करने के बाद उन्होंने कहा कि इस संकल्पना ने ऊर्जाशक्ति को बढ़ावा देने का काम किया है। परन्तु समान–अधिकार के सभी आंदोलनों को बल, उद्देश्य और समान स्तर प्रदान करने में यह सक्षम नहीं हो सका है। राष्ट्रीय मानसिकता का विश्लेषण करते समय उन्होंने यह दिखाया कि डर और अपराध की भावना ने श्वेत अमेरिकियों को काले लोगों को समझने से रोका है। काले लोगों द्वारा की गयी हिंसा का गलत अर्थ लगाते हुए श्वेतों ने न्याय के लिये "कानून एवं व्यवस्था" की संकल्पना को मुख्यधारा में लाया है।

इसके बाद समस्या का हल निकलने के लिए वस्तुवादी नीतियों का उन्होंने विश्लेषण किया है। काले उग्रवादियों की अमेरिकी वास्तविकताओं को ठीक से स्वीकार न कर पाने की असफलता दिखाते हुये, उन्होंने अलगाववाद की एक संकल्पना के संबंध में विचार किया। विचारधारा के प्रति इसके खतरे और अस्थायी विधियों द्वारा इनके रचनात्मक प्रयोग के सन्दर्भ में भी विचार किया। उन्होंने गठबंधन के प्रश्न का विस्तार

से विवेचन किया और वे रास्ते बताये जिससे श्वेत लोग जो पहले काले लोगों के संगठनों से निकाल दिये गये थे वे बिना किसी शर्त वापस लाये जायें।

अर्बन लीग फील्ड के प्रमुख के रूप में प्राप्त हुये अनुभवों के आधार पर उन्होंने दिखाया है कि समाज को बड़े स्तर पर शिक्षा, रोजगार, अपराध, आवास, पुलिस–सम्बन्धी और राजनैतिक शक्ति से सम्बन्धित समस्याओं को हल करने में प्रवृत्त किया जा सकता है। इस विरोधाभासी अतिवादी समय में पूरा बल इस बात पर दिया गया कि किस प्रकार काले अमेरिकियों का क्रोध तात्कालिक अमेरिकी समाज के एकमात्र उपलब्ध ढाँचे में व्यवस्थित किया जा सके।

जिस अर्बन लीग का नेतृत्व श्री टकर कर रहे थे उसका कार्य सन् 1910 से चलते रहने के बावजूद नागरी अधिकार के लिए आंदोलन का स्वरूप सन् 1960 के बाद प्राप्त हुआ है। इस आंदोलन द्वारा विविध रणनीतियों को स्वीकार करने के बावजूद सभी लोगों का उद्देश्य एक ही था– वह है समरसता

श्री टकर कहते हैं "समरसता कितनी शीघ्रता से प्राप्त कर सकते हैं यही एकमात्र प्रश्न था। आंदोलन की कानूनी कार्यवाही का आधार यही था कि अलगाववाद से विषमता पैदा होती है और वह दृढ़ होती है। 'स्वाट बनाम पेंटर' और 'ब्राऊन बनाम टोपेको' के सन् 1950 और 1954 के ऐतिहासिक मुकदमों को बल देने वाला यही विश्वास था कि समरसता से समानता की प्राप्त की जा सकती है।"

श्री टकर कहते हैं "हम अश्वेतवर्णीय गरीब और श्वेतवर्णीय गरीब, अश्वेत वर्णीय मजदूर और श्वेतवर्णीय मजदूर एक ऐसी प्रणाली के शिकार हैं, जहां आमदनी का विभाजन इतना असंतुलित है, कि विश्वास नहीं होता।" यदि हम अश्वेत वर्णीय लोग अमेरिका में अच्छा जीवन जीने का उद्देश्य रखते हैं तथा हमारा शोषण करने वाली गरीबी से मुक्ति पाना चाहते हैं, तो जिन श्वेत वर्णीयों का भी शोषण होता है उनके साथ हमें एकजुट होकर मित्रता का हाथ बढ़ाना चाहिए। चमड़ी का काला वर्ण न होने के कारण उन्हें हमारी अपेक्षा कम श्रम करना पड़ता है। फिर भी यह बात है कि वे अभी भी शोषित हैं। रईसों के हित में बने और गरीबों को अधिक गरीब बनाने वाले जो कर–संबंधी कानून हैं उनके विरुद्ध हम लोगों को श्वेतवर्णियों के साथ गठबंधन बनाकर लड़ाई लड़नी चाहिए तथा न्यूनतम सालाना आमदनी पाने के लिए उनके साथ एकजुट होकर संघर्ष करना चाहिए। एक इतालियन–अमेरिकी कैथोलिक धर्मगुरु फॉदर जेनो बारोनी स्मरण दिलाते हैं कि खतरा भयानक होगा इतना सच है। सोच–समझकर न बोलने वाले लालची नेतागण मतों के लिए इस समाज की पीड़ा को

अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करेंगे और जो श्वते–अश्वेत गरीब लोग स्वाभाविक रूप से मित्र होने चाहिए उनमें दूरियां बनाने का प्रयत्न करेंगे। यह बताना आवश्यक है कि आज अमेरिका में गरीबीरेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या पांच करोड़ के आसपास है। उसमें नीग्रो पुरोरिकन्स मेक्सिकन्स लोगों का प्रभाव उनकी जनसंख्या की अपेक्षा अधिक है। परन्तु पूरे देश के गरीब लोगों में नीग्रो लोगों की अपेक्षा श्वेत वर्णीयों की संख्या अधिक है। कुल नीग्रो जनसंख्या, गरीब श्वेतवर्णीय लोगों के अनुपात से कम है। श्वेतवर्णियों में गरीब लोग 20 प्रतिशत हैं।

अतीत में सामुदायिक गिरिजाघर, गिल्ड्स, सोसायटी, पुरुषों के क्लब आदि संगठनों का अश्वेत वर्णीय समाज पर प्रभाव था। वे संगठन आज भी सक्रिय हैं। सामान्य क्लब्स भी जनहित का काम करके अपने अस्तित्व का समर्थन करते हैं। क्योंकि अश्वेत वर्णीय समाज केवल कुछ ही मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करता है। अतीत में उन मुद्दों का समाधान करने का दायित्व वरिष्ठ नेताओं पर सौंप दिया जाता था। परन्तु वह दायित्व आज समाज अपने कंधों पर ले रहा है। परिणामस्वरूप 'समाज का बड़ा नेता' यह औपचारिक उपाधि विलुप्त होकर निम्न स्तर के स्थानीय नेतागण बड़ी संख्या में सामने आ रहे हैं। इन नेताओं का ध्यान अलग–अलग मुद्दों पर होता है। ईमानदार समर्थक उन्हें समर्थन देते हैं। पहले स्थानीय संगठन सीमित होता था, उनकी ओर ध्यान आकर्षित नहीं होता था। उनका प्रभाव भी कम होता था। लेकिन अब किसी छोटे गांव का अपरिचित सामान्य नेता भी अपनी बस्ती में घरों की योजना कैसी होनी चाहिए यह कह सकता है और उसकी बात को सुना भी जाता है। जिसे जनतंत्र कहते हैं, एक ऐसी ही प्रक्रिया चल रही है जो संदर्भों की प्रासंगिकता रखना, प्रतिक्रिया देना और अधिक समग्र होने के लिए वरिष्ठ अश्वेतवर्णीय नेतृत्व को बाध्य कर रही है।

समारोही अश्वेतवर्णीय नेताओं के दिन जा चुके हैं। एडम क्लेशन पॉवेल की हार हुई क्योंकि वह समारोही नेता की तरह काम करने लगे थे। पहले उसने अपने क्षेत्र में सेवा कार्य किया था लेकिन बाद में वह प्रतीकात्मक नेता बनने लगा था। आज के अश्वेतवर्णीय समाज की दृष्टि से यह पर्याप्त नहीं। ऐसे में समारोही नेतागण समारोह के बिना अलग पड़ रहे हैं।

"इसलिए हम लोग एक ऐसे नेतृत्व को सामने आते हुए देख रहे हैं जो जनता के लिए है। समाज के निचले स्तर की समस्याओं को जानता है। समाज की आवश्यकताओं को समझता है और अपनी प्रतिक्रिया देता है। जब तक वह परिस्थिति की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तब तक वे नये नेतागण विश्वसनीय माने जायेंगे। ऐसे नेताओं का एक अधिकार होता है और कार्य करने की स्वतंत्रता होती है।"

राकेश सिन्हा

दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के
एसोसिएट प्रोफेसर हैं।

भारत में वैचारिक प्रवाह कभी भी ठहराव का शिकार नहीं हुआ। इसीलिए तमाम उत्थान–पतन के बावजूद सभ्यता की निरंतरता बनी रही, जो इसे विश्व–सभ्यता में एक अलग स्थान प्रदान करती है। यहां तक कि औपनिवेशिक काल में भी राजनीति की प्रधानता होते हुए भी सामाजिक–सांस्कृतिक–धार्मिक विषयों पर प्रखर विमर्श, वैचारिक संघर्ष और सशक्त पहल होती रही। इनके पीछे न तो राजनीति की प्रेरणा थी न ही भावना, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक आंदोलनों ने ही राजनीति को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित और परिष्कृत करने का काम किया। उन्नीसवीं–बीसवीं शताब्दी में सुधार आंदोलनों के समक्ष हिन्दू समाज में कुरीतियों एवं कर्मकांडों का संस्थाकरण हो जाने की चुनौती विद्यमान थी। इसका समाज, संस्कृति और जीवन–दृष्टि पर गहरा नकारात्मक प्रभाव पड़ा। पर्दा, सती, बाल विवाह, विधवा विवाह, दहेज प्रथा, अस्पृश्यता जैसे अनेक सवालों ने भारत के स्वर्णिम विरासत और उज्जवल भविष्य के बीच खाईं उत्पन्न करने का काम किया। इस दौर में चिंतकों और सुधारकों ने कर्मकांडी सोच, विचार, व्यवहार और यथास्थितिवाद को तोड़ने में क्रांतिकारी भूमिका निभाई। यहां गौरतलब बात यह भी है कि भारत की बौद्धिक परंपरा में चिंतकों एवं सुधारकों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं रही। यह भारत और पश्चिम के बौद्धिक प्रवाहों में एक महत्वपूर्ण अंतर रेखांकित करता है। पश्चिम में विश्लेषणात्मक–आलोचनात्मक आधारों पर अध्ययन होता है। इस बौद्धिक परंपरा की अपनी एक खासियत है। वहां चिंतकों का एक अलग और स्वायत्त वर्ग बन जाता है। वे पुस्तकीय ज्ञान, अनुभव, विचार, पूर्वाग्रह और समझ के आधार पर बौद्धिक प्रवाह में शामिल होते हैं। वहीं दूसरी ओर भारत के चिंतकों ने सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन को प्रयोगशाला की तरह देखा है।

INDIA POLICY FOUNDATION
॥ प्रदीपयेम जगत् सर्वम् ॥

D-51, First Floor, Hauz Khas, New Delhi - 110016 (India)
Tel.: +91-11-26524018
Fax: +91-11-46089365
E-mail: indiapolicy@gmail.com
Website: indiapolicyfoundation.org

ISBN 978-81-925223-7-1

Price : Rs. 100/-